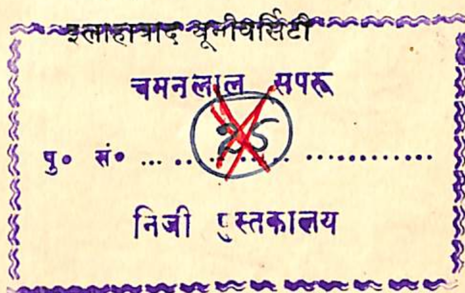
साहित्य-समालोचना

[कविता, कहानी, रंगमंच तथा समालोचना—हिन्दी साहित्य के इन मुख्य चार अंगों पर विवेचन]

लेखक

डा० रामकुमार वर्मा एम० ए०



प्रकाशक

हिन्दी-भवन

जालंधर और इलाहाबाद

१९५१] [मूल्य १।।।)

प्रकाशक
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद

डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय
की सेवा में सादर समर्पित

प्रयाग
रामनवमी १९८७

स्नेह-भाजन—
रामकुमार

दो शब्द

इस पुस्तक के विषय में मुझे केवल दो शब्द ही कहने हैं। बात १९२८ और १९२९ की है, जब मैंने प्रयाग-विश्वविद्यालय की हिन्दी-परिषद् में कुछ निबन्ध पढ़े थे। सुनने वाले संपूर्णतः बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थी ही थे। विद्यार्थी उन निबन्धों को परीक्षा के दृष्टि-कोण से ही देखते-सुनते थे। मैं कह तो नहीं सकता कि उन्हें उन निबन्धों में परीक्षा की कितनी सामग्री मिली; परन्तु इतना अवश्य है कि उनकी साहित्य-जिज्ञासा कई अंशों में संतुष्ट अवश्य हो गई। फिर बी० ए० ऑनर्स क्लास में भी मुझे इसी साहित्य-समालोचना का विषय पढ़ाना पड़ता था। विद्यार्थियों का अनुरोध भी कम नहीं था। फलतः उन निबन्धों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करना अनिवार्य सा हो गया। वही हिन्दी-संसार के सामने है। निबन्ध-लेखन अंशतः कुछ अंगरेज़ी साहित्य की पुस्तकों से सम्बन्ध रखता है। ऐसी स्थिति में यदि इनमें किसी के भाव या विचार या वाक्य की छाया आ गई हो तो मैं उस भाव की पंक्तियों के लेखक का कृतज्ञ हूँ।

रामकुमार वर्मा

विषय-सूची

कविता

किसी जगह एक तमाशा हो रहा था। चारों तरफ बड़ी-सी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। सँपेरा अपने हाथ में तूँबी लेकर साँपों को नचा रहा था। साँपों को कभी-कभी वह बुरी तरह से मरोड़ डालता था; कभी उनके दाँतों पर उँगलियाँ रखकर उन्हें गिनता था। इतना होने पर भी वे साँप उसे काटते न थे। एक भोले-भाले आदमी ने बड़ी व्यग्रता से पूछा—"क्यों भाई, तुम्हें ये साँप काटते क्यों नहीं? बहुत सीधे कर लिये हैं!"

सँपेरे ने हँस कर कहा—"इस प्रश्न का उत्तर—सच पूछिए तो—मैं नहीं दे सकता। बस, यही जानता हूँ कि मैं इन्हें बहुत दिनों से खिला रहा हूँ। रोज़ दूध पिलाता हूँ। शायद, इसीलिए ये नहीं काटते; किन्तु अभी तक साँप के हृदय का रहस्य नहीं खुला।"

प्रश्नकर्त्ता ने गहरी साँस भर कर कहा—"साँप के हृदय का रहस्य बड़ा गहरा है, शायद खुलेगा भी नहीं।"

समालोचक ने सँपेरा बनकर कविता के विषधर को खिलाया, उसे घुमाया-फिराया, पर उसने उसका पूरा रहस्य अभी तक नहीं पहचाना। उसका रहस्य बड़ा गहरा है, शायद कभी खुलेगा भी नह।

कविता का रहस्य गहरा

अनंत काल तक ये समालोचक इसी तरह खेल करेंगे और

भोले-भाले देखने वाले कविता की परिभाषा पूछा करेंगे; पर कभी संतोषजनक उत्तर मिलेगा या नहीं--इसमें बहुत सन्देह है। संसार के अनन्त इतिहास में अनेक प्रश्न पूछे जा सकते हैं; विज्ञान और कला पर, कल्पना और सत्य पर, सौन्दर्य और ज्ञान पर; बहुत से उत्तर देने वाले साधन अज्ञात हैं। सब कुछ सुलझाने के बाद भी एक उलझन रह जाती है। वह कविता की अदृश्य अस्पष्ट और रहस्यमयी भावुकता है। वह क्या है, कहाँ है, कैसी है, इनका उत्तर उत्तर नहीं, मन को समझाने के लिए एक कल्पना है। प्रश्नकर्त्ता गंभीर बनकर प्रश्न पूछते हैं, पर उनके प्रश्न वायु में गूँजकर रह जाते हैं, कोई उत्तर देने वाला नहीं। शायद प्रश्न की प्रतिध्वनि ही लौट कर उत्तर का स्वरूप धारण कर लेती है।

कविता की शक्ति एक परी के समान है। यह पूर्ण स्वच्छन्द है। जिन वस्तुओं की ओर जाना चाहती है, वेग से उड़ जाती है; एक मिनट में, एक सेकंड में। जिसको उसके पंखों की हवा छू भी गई है, भला वह उसे परिभाषा के पिंजड़े में बन्द करने का व्यर्थ प्रयास क्यों करेगा! ऐसी सलोनी और सुकुमार परी क्या पिंजड़े में बन्द की जा सकती है? यह सरासर अन्याय होगा कि उसको एक पंक्ति में कैद कर दिया जाय। हाँ, इसलिये कि वह परी है—अस्तित्व रखने वाली एक वस्तु विशेष है, हम उसका कुछ अनुभव कर सकते हैं। और वह अनुभव यही है कि कविता में जीवन की शक्तियाँ होने के कारण—उसमें हृदय को स्पर्श करने की भी शक्ति है—किसी वस्तु का मूल्य बढ़ाने की

ताकत है। कविता की सजीव शक्ति नीरस पदार्थ को सरस बनाकर वस्तु-स्वभाव में विशेष परिवर्तन कर देती है। फूल में काँटा और काँटे में फूल का आभास होता है।

मेरे मकान के पास एक टूटी झोंपड़ी है। उसके सभी भाग नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। न तो उसमें सौन्दर्य है और न हृदय को लुभाने वाली कोई बात ही। वह महा कुरूप है और उसमें काँटेदार पौधे निकल आये हैं। पर जब चाँदनी खिलती है तो झोंपड़ी में भी सौन्दर्य की एक उज्ज्वल धार आ गिरती है। उसका टूटा हुआ द्वार संगमरमर का आधा कटा हुआ टुकड़ा मालूम होता है। उसके भग्न भाग एक दैवी छटा से बड़े भले जान पड़ते हैं। यही मैं कविता के विषय में कह सकता हूँ। कोई चीज़ सूखी है—नीरस है—पर जहाँ उस पर कवि की काव्य-किरण पड़ी, उसी समय उसमें उज्ज्वलता और सौन्दर्य का आभास मिलने लगा। उसमें छटा की निर्झरिणी का कल्लोल होता है और कवि की आँखों का भाव हमारी आँखों में झूलने लगता है। कवि के फूल माली के फूलों से कहीं अधिक सुगंधित होते हैं। उसका गुलाब माली के गुलाबों से अधिक सुन्दर होता है। कवि का माली 'अल्फ्रेड पार्क' के मालियों से कहीं अधिक चतुर और सौन्दर्योपासक है। कविता के पंखों की हवा पा कर संसार की वस्तुएँ आकाश में गुब्बारे की भाँति उड़ने लगती हैं। फिर वे लौकिक न होकर अलौकिक हो जाती हैं। संसार का हृदय कविता की शक्ति पा कर दूने वेग से धड़कने लगता है।

कविता को एक परिभाषा के पाश में न बाँधकर इतना ही कह सकते हैं कि कविता की विवेचना उतनी ही कठिन और दुरूह है जितनी जीवन या प्रेम की। किंतु जिस प्रकार हम जानते हैं कि कौन सी वस्तुएँ जीवित या प्रेममयी हैं उसी प्रकार हम यह भी जानते है कि कौन वस्तुएँ कविता की सामग्रियाँ हैं। कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना तीव्र है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं।

कविता का संबंध जहाँ तक भावनाओं से है, हम सब भी, वहाँ तक, कवि कहे जा सकते हैं। यद्यपि यह कहना लोगों को हास्यास्पद प्रतीत होगा; पर यथार्थ में है बात ऐसी ही। इसका कारण यह है कि हमारे हृदय में भी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और हममें भी यह शक्ति है कि हम उन भावनाओं को दूसरे के हृदय तक पहुँचा सकें। बस, यही काम कवि का भी है। पर एक अन्तर है। जिन्हें हम कवि कहते हैं वे बड़े भावुक होते हैं और उनकी कल्पनाओं की उड़ान भी बड़ी ऊँची होती है। साथ ही साथ उनमें अपनी भावनाओं को प्रकट करने की शक्ति भी खूब होती है—इतनी कि वे अपनी भावनाओं से दूसरों के हृदय में भी 'उथल-पुथल' मचा दें। प्राकृतिक सौंदर्य को हम अपनी आँखें आधी बंद करके देखते हैं—बादल है, निर्झर है, गुलाब का फूल है। उन्हें हम देख कर उस प्रकार आँखें फेर लेते हैं जिस प्रकार संसार की अन्य वस्तुएँ देखकर उनकी याद भी नहीं रखते। पर कवि की बात ही अलग है। वह काला और गरजता

हुआ बादल देखता है दिव्य आँखों से—अनूठी भावनाओं से। मानो अपने को काले वस्त्रों में लपेटे एक राक्षस या दैत्य कराहता हुआ आकाश में लोट रहा है। ओस में वह रात के आँसुओं को ढूँढता है। वनों की छटा में वह प्रकृति का शृङ्गार देखता है और फूल की पंखुड़ियों में ओठों की लालिमा पाता है। इन्हीं दिव्य-दृश्यों के आनन्दातिरेक में कवि हर्ष से, प्रसन्नता से, चिल्ला उठता है, जिससे हम भी उसके देखे हुए पदार्थों को फिर ग़ौर से देखने के लिए अग्रसर होते हैं और हम भी वही मजा लूट लेते हैं जिसका कभी हमने स्वप्न में भी ध्यान नहीं किया था। इस प्रकार दैवी और अलौकिक सौंदर्य की छटा दिखलाने के लिए कवि मानो हृदय में एक खिड़की सी खोल देता है। सेमुएल बटलर महाशय इन्हीं शब्दों को इस प्रकार कहते हैं—

"यदि यंत्रों के आविष्कारों ने मनुष्य-मात्र को अन्य कार्यशील अवयव दिये हैं तो कवियों ने हमें बहुत भव्य उपहार दिये हैं। उन्होंने हमारी आत्मा में नवीन वातायन खोल दिये हैं।"❀

कवि की महत्ता किस बात में है ? मैं तो यही समझता हूँ कि वही व्यक्ति एक महाकवि है जिसने उन सभी प्राकृतिक या मानवीय व्यापारों का अनुभव किया हो—अनुभव ही नहीं,

---

❀ If the inventors of machinery have given mankind supplementary extra corporeal limbs, the poets have a far nobler gift for us; they have opend new windows in our souls.

वरन् उनके द्वारा दूसरों के हृदय में चुटकी भी ली हो. जो व्यापार, चाहे प्राकृतिक हों या अप्राकृतिक, मनुष्यमात्र का हृदय छू लेते हैं। यही कारण है कि कृष्ण की मुरली के स्वर में नाचने वाले सूरदास जिनका हृदय मानव जाति के हृदय से बना था, जिनके स्वर ने विश्व भर के हृदय की बोलियाँ सीखी थीं, आज कवि के आसन पर आसीन है—संसार में सर्वमान्य हैं।

पर ऐसे कवि की कविता स्थिर नहीं होती, उसका स्वरूप सदैव एक-सा नहीं रहता। सन्ध्याकालीन बादलों की भाँति वह भी बदला करता है। दो मिनट में गुलाब-सा बादल हरसिंगार के फूलों का रूप रखता है। वही धतूरे का नीला फूल बनकर अन्धकार की काली गुफा में उड़ जाता है। वैसे ही शृंगार से छलकती हुई कविता कभी करुणा के आँसुओं में, कभी रौद्र में और कभी भयानक के जाल में फँस जाती है। कविता के जीवन में यही परिवर्तन का क्रम सदा एक-सा लगा रहता है।

× × ×

हिन्दी कविता भी इस परिवर्तन-क्रम से न बची। उसके रूप में भी परिवर्तन हुआ। सोलहवीं शताब्दी से ब्रजभाषा की बाँसुरी बजी। भारत का कोना कोना गूँज उठा। उसका स्वर लेकर भाषा के न जाने कितने कवि भाषाभाषियों के ओठों पर आकर अमर हो गये। ब्रजभाषा का माधुर्य कौन कह सकता है कि कब पुराना होगा। उसके उपवन का 'ख़िज़ाँ' कौन देख सकता है! उसी उपवन में श्याम की सूरत दिव्य आँखों से देखने वाले सूर के गीतों की वीणा उठी। तार हिले और समा

बँध गया। मींड़ हिली, वायु की तरंगें हिलीं और जान पड़ने लगा कि हृदय के हिलने के साथ ही सारा संसार हिल रहा है। माया-मोह के परदे के भीतर लौकिक माता-पिता के प्रेम के चारों ओर एक दिव्य शक्ति नाचने लगी—सूर की वीणा पर ताल देने लगी। वह थी बालक कृष्ण की सौम्य मूर्ति। सूर का स्वर गूँजा। यहाँ तक कि सूर की भावना स्वयं गीत बन कर सारे संसार में चाँदनी की भाँति छिटक गई। साहित्य-क्षेत्र के अन्धकार में प्रकाश आ गया। सुन्दरता में सौम्यता आ गई। ओठों में सोमरस भर गया। यह सोमरस वह है, जिसमें नशा नहीं, मादकता नहीं। देखिये -

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों, मेरे पाइँ पिराइ॥
जो न पत्याहि पूछि बलिदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालन, गारी देति रिसाइ॥
मैं पठवति अपने लरिका को, आवै मन बहराइ।
'सूर' स्याम मेरो अति बारो, मारत ताहि रिंगाइ॥

और मीरा के वे भजन भजन नहीं, भावना के साकार अवतार हैं। 'मेवाड़ की मरुभूमि की मन्दाकिनी' 'भक्ति के तपोवन की शकुन्तला' वह मीरा, शब्दों के फूलों में सुगंधि भर गई। उसने भक्ति के उस स्वर में अपने गिरधर गोपाल को नैनों में बसने की याचना की है जिस स्वर को सुनकर गिरधर गोपाल पर्वत धारण करने वाले न होकर केवल शिशु नंदलाल ही रह गये हैं!

"मीरा मन-मन्दिर में, मोहन मूर्ति मनोहर सोहै।"

ऐसी उस ब्रजभाषा की शक्ति थी। उसने शृंगाररस की अनोखी झाँकी दिखलाई। राधाकृष्ण की वियोग-कथा में आँसुओं की नदी बहा दी। देखिये बलदेव जी की यह उक्ति—

मति अति आपकी अबल अबला सी लगै,
सागर सनेह कहो कैसे पार पावैगी।
खोलिये न जीह अरु लीजिये न नाम इत,
बलदेव ब्रजराज जू की सुधि आवैगी।
सुनतहिं प्रलय पयोधि माँहि एक ऐसी,
कहर करनहारी लहर सिधावैगी।
राधे दृग सलिल प्रवाह माँहि आज ऊधो,
रावरे समेत ज्ञान गाथा बहि जावैगी।

जिस प्रकार पवित्र-सलिला भागीरथी का पतन खारे समुद्र में होता है, उसी प्रकार इस शृंगार-गाथा का पतन नायक-नायिका-भेद में हुआ। राधा-कृष्ण तो दूर रहे, अनेक नायक-नायिकाओं की भीड़ से सारा साहित्य-क्षेत्र भर गया। एक कदम रखने के लिए भी जगह न रह गई। जहाँ देखिये वहीं नायिकाएँ कोकिल, पपीहे, चाँद, सूरज आदि को गालियाँ दे रही हैं! हवा को तीर और तलवार के नाम से पुकार रही हैं! कहीं ज्ञातयौवना

चौक में चौकी जराय जरी
तेहि पै खड़ी बार बगारत सौंधे"

की मज़ेदार तकलीफ़ गवारा कर रही है, तो दूसरी जगह अज्ञातयौवना

"कंज अरी, मुँद जात से हैं
अरु खंज कहूँ भगि जात से हैं री"

कहकर अपना भोलापन प्रकट कर रही है। वासक-सज्जा के 'टाइमटेबिल' में हमेशा सेज सजाना और प्रोषितपतिका के कार्यक्रम में अपने शरीर से आग की लपटें निकाल कर अपनी सखियों को इस डर से कि कहीं वे जल न जायँ, गीला कपड़ा पहनने के लिए बाध्य करना ही लिखा है। अभिसारिका को आधी रात में भी, जब मीठी नींद से सोना चाहिये, घूमने से फुरसत नहीं मिलती। देखिये—

सजि व्रजचंद पै चली यों मुखचंद जाको,
चंद चाँदनी को मुख मंद सो परत जात।
कहैं पद्माकर त्यों सहज सुगन्ध ही के,
पुंज वन कुञ्जन में कंज से भरत जात।
धरत जहाँई जहाँ, पग है सुप्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही के माठ से ढुरत जात।
हारन ते हीरे ढरें सारी के किनारन तें,
बारन ते मुक्ता हजारन झरत जात॥

ऐसी यह शुक्लाभिसारिका है। कहाँ तक गिनती की जाय, मानो मन का प्रत्येक विचार नायिका का रूप रखकर साहित्य-क्षेत्र में उतर आया है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि नायक-नायिकाओं से मैं घृणा करता हूँ। पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि इन्होंने हमारे हिंदी-साहित्य की दृष्टि परिमित कर उसकी सीमा निर्दिष्ट कर दी है, हमारे साहित्य के गले में साँकल

बाँधकर उसे शृंगार रस के ठूँठ से अटका दिया है। यह शृंगार का पतन हमारे साहित्य के विकास का बाधक हुआ।

पर व्रज कविता का यह यौवन धीवर-कुमारी सत्यवती के अनंत यौवन के समान नहीं था। उसका पतन भी आँखों के सामने आया। देश की स्थिति के साथ ही साथ कवि के हृदय की स्थिति भी बदली। उसमें व्रजभाषा के लिए उतनी उत्कण्ठा—उतना पागलपन—नहीं रह गया। वह भौंरे के समान व्रजभाषा के फूल से उड़कर खड़ी बोली की कली के ऊपर बैठ गया।

धीरे-धीरे खड़ी बोली में भी माधुर्य मालूम पड़ने लगा। बालिका में यौवन की लालिमा आई। उसका शब्द-समूह परिष्कृत होगया। उसकी शैली में नवीनता, दृढ़ता और माधुर्य का अंश बढ़ गया। लोगों को अनुभव होने लगा कि खड़ी बोली केवल बोलने ही की भाषा नहीं है, वरन वह सच्ची कविता की भी भाषा हो सकती है। उसमें दिनों-दिन अच्छी कविता की सृष्टि होने लगी। इस प्रकार हमारी आधुनिक हिन्दी की चित्र-रेखा खींची गई, उसमें दिनोंदिन अच्छा रंग भरा जाने लगा।

काव्य के क्रम-विकास का एक नियम है। यद्यपि उस नियम को हम निश्चयात्मक रूप नहीं दे सकते, तथापि हमें उसका भाव साधारणतया सत्य की ओर झुकता हुआ जान पड़ता है। अनेक अंशों में तो वह पूर्ण सत्य भी है। वह यह है कि काव्य में बाह्य जगत के चित्रण के अनंतर क्रमशः अंतर्जगत का चित्रण होता है। बाह्य रूप से आंतरिक रूप की ओर—शरीर से हृदय की ओर—सदैव वर्णन-धारा बहा करती है। रीतिकाल के महाकाव्यों में

हम साधारणतः बाह्यचित्र ही अंकित पाते हैं। जिस प्रकार ऋतु, पर्वत, आकाश, उपवन, केलि, विहार के रंगों से चित्र भरा जाता था, हृदय की गूढ़तम भावनाओं का महत्त्व परदे में छिपा रह जाता था; उसी प्रकार हिंदी की रीतिकालीन अवस्था में व्रजभाषा की कविता का हाल है। उसमें नायक-नायिका भेद तथा नखशिख आदि पर बहुत ज़ोर दिया गया है। वहाँ कूल, केलि, कछार, कुंजों में बसंत बगरा है। 'ऊनरी घटा में दूनरी लगी है' और उसी के साथ

कैसी आज चूनरी फबी है मुख गोरे पै'

की झाँकी देखी जाती है। वहाँ 'कंज सकोच से कीच में गड़े रह जाते हैं' और 'अनंग के तीर हलके' पड़ जाते हैं। प्रकृति-वर्णन में भी

'......लवङ्गन की लोनी लता
लरजि गई तो फेरि लरजन लागी री'

का मज़मून आँखों के सामने 'लरजने' लगता है। और 'फैल रहे तारे मानो मोती अनगन हैं' का दृश्य खिंच जाता है। मतलब यह है कि रीतिकालीन व्रजभाषा में प्रकृति और मानवीय व्यापारों के बाह्य रूप का वर्णन किया गया है। आन्तरिक वर्णन यदि कहीं पाया जाता है तो वह भी प्रातःकालीन तारों का भाँति यहाँ-वहाँ, जिसे हम समुद्र में दो बूँद के समान मान सकते हैं।

जैसे-जैसे कविता का विकास होता है, वैसे ही वैसे आन्तरिक दृश्यों की झाँकी देखने को मिलने लगती है। व्रजभाषा के बाद कविता का जो विकास हुआ उसमें हम बहुत कुछ यही

बात पाते हैं। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि वर्तमान कविता में आन्तरिक दृश्यों की चकाचौंध है और वह चरम सीमा पर पहुँच गई है; किन्तु मैं यही कहता हूँ कि वर्तमान कविता की रुचि केवल बाह्य रूप पर परिमित न होकर हृदय की आंतरिक अनुभूतियों के समीप पहुँचने का प्रयत्न कर रही है। इस प्रयत्न में वह सफल हुई है अथवा नहीं, यह अभी नहीं कहा जा सकता। इस विषय को अभी यहीं रहने दीजिये।

× × × ×

व्रजभाषा के आतंक से निकल कर हम खड़ी बोली की कविता को अनेक धाराओं में बहते हुए पाते हैं। सभी धारा-समूह भिन्न-भिन्न मार्गों में वह रहे हैं, अपनी ध्वनियों और गतियों के साथ किसी का वेग कुछ अधिक है तो कोई अपनी मन्द गति से जा रहा है। जल वही है, किन्तु वेग भिन्न-भिन्न हैं। बाँसुरी वही है पर उसमें भिन्न-भिन्न रागनियों का स्वर है। लता वही है, पर उसमें पत्ते भिन्न-भिन्न दिशा की ओर हैं। सूर्य वही है, पर उसमें नये नये प्रभात हैं। गाड़ी के चक्के बदस्तूर वही हैं, पर उनकी रफ़्तार में फरक है।

सबसे पहले हम छायावाद या रहस्यवाद को लेते हैं। वर्तमान खड़ी बोली में छायावाद को लोग सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। हमारे आलोचकगण यह समझ रहे हैं कि छायावाद से वर्तमान कविता की रुचि बिगड़ रही है और उसमें मनमानी छोटी-मोटी लंबी चौड़ी भावनाओं का ढेर भरा जा रहा है। असमर्थ कवियों की रचनाओं के कारण इस बात को किसी अंश तक मानते हुए

भी छायावाद का प्रवेश बुरा नहीं कहा जा सकता। हमारे यहाँ के कुछ कवि स्वयं नहीं समझते कि छायावाद किसे कहते हैं अथवा उसके क्या तत्त्व हैं। गत वर्ष हिन्दी की एक ऊँची परीक्षा के एक परीक्षार्थी ने जो कवि के नाम से विभूषित था, छायावाद की परिभाषा इस प्रकार दी थी—

"जब करुणा के विचार वीणा के तारों से मिलकर टेढ़े-मेढ़े होकर आकाश में फैल जाते हैं और अनंत की ओर जाते हैं तो छायावाद की सृष्टि हो जाती है।" जब कवि स्वयं नहीं समझता कि छायावाद क्या है तो पाठकों से उसके समझने की क्या आशा की जा सकती है। यहाँ छायावाद की विवेचना करना असाध्य है। पर उसका रूप अवश्य स्पष्ट किया जा सकता है। एक बार मैंने उसकी विवेचना इस प्रकार की थी—

"छायावाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिस में वह दिव्य और लौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। ऐसी स्थिति में परमात्मा के बिना जीवात्मा की शक्तियों का विकास नहीं होता। इसी विचार के वशीभूत होकर शमसी तबरीज ने फारसी में कहा था—

दर खाना ए आबो मिल
बे तुस्त खराबई दिल
या खाना दर ए जाँ
या खाना विपर दाज़म्

अर्थात् इस पानी और मिट्टी के मकान में तेरे बिना यह हृदय खराब है। या तो मकान के अन्दर आ जा, ए मेरी जाँ,

या मैं इस मकान को छोड़ देता हूँ।

कबीर ने इसी से मिलता-जुलता विचार प्रकट किया था—

कहै कबीर हरि दरस दिखाओ
हमहिं बुलाओ कि तुम चलि जाओ।

इस प्रेम का सम्बन्ध यहाँ तक जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। इसका फल यह होता है कि परमात्मा के सभी गुण आत्मा में प्रतिबिंबित होने लगते हैं और आतमा के गुण परमात्मा में। दूसरे शब्दों में कह लीजिए कि परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है। अनन्त पुरुष का आभास सान्त प्रकृति में होने लगता है। अपरिमित ईश्वर परिमित संसार में अपनी छाया फेंकता हुआ नजर आता है। पुरुष या ईश्वर की यही छाया जब कवि संसार के अंगों में वर्णन करता है तो उस वर्णन को छायावाद का नाम दिया जाता है। रहस्यवादी जरसन के अनुसार रहस्यवाद की अभिव्यक्ति उसी समय होती है जब आत्मा प्रेम की अमूल्य निधि लिये हुए परमात्मा में अपना विस्तार करती है। पवित्र और उमंग भरे प्रेम से परिचालित आतमा का परमात्मा में गमन ही रहस्यवाद कहलाता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने केवल आत्मा को ही परमात्मा के लिए उत्सुक नहीं बतलाया वरन् परमात्मा को भी आतमा से मिलने के लिए उत्सुक बतलाया है। वे 'आवर्तन' शीर्षक कविता में यही लिखते हैं :—

धूप, (एक सुगन्धित द्रव्य) अपने को सुगन्धि के साथ

मिला देना चाहता है।

गन्ध भी अपने को धूप के साथ सम्बद्ध कर देना चाहती है

स्वर अपने को छन्द में समर्पित कर देना चाहता है

छन्द लौटकर स्वर के समीप दौड़ जाना चाहता है

भाव सौंदर्य का अंग बनना चाहता है

सौंदर्य भी अपने को भाव की अंतरात्मा में मुक्त करना चाहता है

असीम ससीम का गाढ़ालिंगन करना चाहता है

ससीम असीम में अपने को बिखरा देना चाहता है

मैं नहीं जानता कि प्रलय और सृष्टि किसका रचना वैचित्र्य है

भाव और सौंदर्य में अविराम विनिमय होता है

बद्ध अपनी मुक्ति खोजता फिरता है

मुक्ति बंधन में अपने आवास की भिक्षा माँगती है।

जलालुद्दीन रूमी का कथन निकलसन इस प्रकार लिखता है—

'मेरी आत्मा तुझ में इस प्रकार मिल गई है जैसे शुद्ध शराब में पानी। यदि कोई वस्तु तुझे स्पर्श करती है तो वह मुझे स्पर्श करती है। देख सभी प्रकार तू 'मैं' है।'*"

---

* My spirit is mingled with thine spirit even as water is mingled with pure wine. If anything touches thee, it touches me, Lo, in every case Thou art I."

—'The Idea of Personality in Sufism, Page 17.

वही छायावाद हिन्दी में प्रचार पा रहा है। समालोचकों को इससे चिन्तित नहीं होना चाहिए। छायावाद संसार के प्रत्येक उत्कृष्ट साहित्य में पाया जाता है। अंग्रेजी, ग्रीक, जर्मन, फ़ारसी साहित्यों में छायावाद या रहस्यवाद का अस्तित्व है। फ़ारसी में छायावाद के अतिरिक्त उत्कृष्ट कविता कम है। यदि हिन्दी में छायावाद की कविता अभी अच्छी नहीं है तो मुझे विश्वास है कि आगे चल कर यह परिष्कृत अवश्य हो जायगी। समालोचकों को धैर्य धारण करना चाहिए। कविता के क्षेत्र बारबार नहीं बदला करते। जब वे बदलते हैं तो स्थायी रूप से और धीरे धीरे।

छायावाद की अभिव्यक्ति में हमारे हिंदी-कवि प्रायः करुण भावनाओं का ही प्रकाशन करते हैं। वे सदैव सूने संसार में विचरण करते हैं। उनकी साँसों में आह है—उच्छ्वास है, उनके नेत्रों में अश्रुओं की धार है। आजकल हिंदी कवियों में छायावाद लिखने की भावना इन्हीं बातों पर आश्रित है। किंतु मैं यह ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि इस करुण रस की कविता से हमारे साहित्य में शक्ति नहीं आ सकती। यह नवयुग है। देश की स्वतंत्रता की दिव्य भावनाओं से प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी का हृदय सजा हुआ है। प्रत्येक कवि के हृदय में आशा, उत्साह, सौंदर्य की स्पष्ट भावनाएँ अंकित रहनी चाहिएँ। हर्ष और विश्वास का सुदृढ़ आधार हमारी कविताओं का जीवन हो। इसी भावना से प्रेरित हो कर तो अंडरहिल ने छायावाद की परिभाषा देते हुए कहा था—

छायावादी कविता एक ओर तो सत्य के स्वरूप की ओर निर्देश करती है और दूसरी ओर एक भविष्य-वाणी का रूप ग्रहण करती है*। एक ओर उसकी छाया में सांत का मिलाप अनंत से होता है और दूसरी ओर वह एक अमर सन्देश का वहन करती है। छायावादी कवि दो लोकों में विहार करता है। एक तो वह ऊपर की ओर उठकर नक्षत्रों में मिलकर चाँद की किरणों को हिलाता है—प्रातःकाल का सोना बटोरता है, उषा के रंगीन अंचल में गुलाब के फूल और पत्तियों के गाने भरता है और दूसरी ओर वह अनंत स्मृति को लेकर संसार के आगे बिखेर देता है। उसकी कविता में प्रेम होता है और उस प्रेम में ईश्वर की महान सत्ता का सङ्गीत रहता है। ऐसे कवियों ने लौकिक और अलौकिक, चर और अचर, दृश्य और अदृश्य, दिव्य और सांसारिक सभी झगड़ों को सुलझा रक्खा है। कबीर, जलालुद्दीन रूमी और सेंट आगस्टाइन की कविताओं में यही छायावाद का राग गूँजता है। उन्हें समीप में असीम का अनुभव होता है। वे लोग कहते हैं—

अनश्वरता गाने को हाय,
यही है मेरा नश्वर राग।

---

*The poetry of mysticism might be definite on the one hand as temperamental reaction to the vision of reality on the other as a form of a prophecy.

उषा की लोल लहर में नित्य
डूबता उतराता अनुराग ॥

यही ईश्वरीय अनुभूति है। यही ससीम क्षितिज के घेरे में असीम का प्रादुर्भाव है। कबीर कहते हैं—

पिया ऊँची रे अटरिया तेरी देखन चली।
ऊँची अटरिया, जरद किनरिया,
लगी नाम की डोरिया। पिया०

कबीर ने और भी लिखा है—

कौन रँगरेजवा रँगे मोर चुँदरी।
पाँच तत्त्व की बनी चुँदरिया,
चुँदरी पहिन के लगी सुन्दरी। आदि

रवीन्द्र अपने ग्रन्थ 'गोरा' में भी तो यही कहते हैं कि यदि ससीम में असीम प्रगट न होगा तो उसके अस्तित्व का पता ही नहीं चल सकता।❀

इसके विपरीत एक एम० एस-सी० छायावाद को समझाते हुए लिखते हैं—

'यहाँ कवि स्वयं प्रकाश का उद्भव-स्थान बन जाता है और अपने विचारों और कल्पना के रूप में वह प्रकाश बहिर्जगत के ऊपर फेंकता है। फलतः काव्य-दर्पण के नियमों के अनुसार एक छाया का आविर्भाव होता है। वह छाया चाहे जिस परिमाण की हो। जिस प्रकार प्रकाश के स्वभावानुसार छाया में परिवर्तन होता

❀ Unless there be the finite, the infinite can not express itelf.

है, उसी प्रकार कवि हृदय के विचार और कल्पनाओं के अनुसार एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न करती है।' *

यह वैज्ञानिक रीति से समाधान केवल अर्थ-रहित ही नहीं, वरन् हास्यास्पद भी है। विज्ञान में जो छाया का अर्थ है, वह कविता में नहीं। किसी व्यक्ति का नाम मदन होने से उसे रति का पति नहीं मान सकते और न उस नाम के संसर्ग से उस पुरुष में सुन्दरता का भाव मान सकते हैं। उसी प्रकार विज्ञान का छायावाद कविता का छायावाद नहीं कहा जा सकता।

सच्चे छायावाद की सफलता में ये चार बाधाएँ हो सकती हैं—

पहली बाधा तो अत्यधिक भावुकता का होना है। कवि यदि पागल होकर चिड़ियों के चहचहाने में विश्व की वेदना सुने तो वह अपनी भावुकता की हँसी कराता है। गधे के रेंकने में यदि यह विश्व-व्यापी संगीत सुने तो वह भी हास्यास्पद ही है। यह कला का नाश और छायावाद का उपहास है।

---

* Here the poet himself becomes the source of illumination and casts his light his fancies and imagination of the external world wherby the superlaws of poetic optics give rise to a shadow, no matter of what variability. As the nature of a shadow will vary according to the uature of illumination so one and the same odject produces different emotions in accordance with fancies and imagination of poetic mind.

दूसरी बाधा सत्य के सौंदर्य में भावात्मक कल्पनाएँ करना है। वास्तविक सौंदर्य कितना सच्चा, कितना सुकुमार होता है। उसमें औंधी-सीधी कल्पनाओं का समावेश फूल को काँटों से वेधना है—सुकुमार बच्चे के हाथ में दो मन मिठाई की टोकरी रखने के समान है।

तीसरी बाधा है कवि का सदैव के लिए आकाश में उड़कर पृथ्वी पर न आना। कवि गुब्बारे की भाँति वायु के थपेड़ों में यहाँ से वहाँ ठोकर खा कर भटका करता है। पृथ्वी पर आना नहीं जानता। त्रिशंकु के समान आकाश में लटका रहता है। इसका नतीजा यह होता है कि कवि वह अनन्त का संदेश संसार को नहीं सुना सकता। उसकी वाणी भविष्य-वाणी नहीं हो सकती। जब वह पृथ्वी पर आना हीं नहीं चाहता, तो उसे क्या गरज पड़ी है जो अपने गानों को सांसारिक वाणी के तारों में भरे। वास्तव में कवि संसार का निवासी है, स्वर्ग का नहीं। वह ऊपर जा सकता है पर उसके पैर पृथ्वी पर ही जमे रहते हैं। वामन भगवान् के समान वह सारे लोकों को पार कर लेता है, पर उसका एक पैर पृथ्वी पर ही रहता है। जो ऐसा कर सकता है वही सच्चा छायावादी कवि है।

चौथी बाधा है ईश्वर की सत्ता के सामने आत्मा की सत्ता का विनाश। जब ईश्वर की सत्ता के सामने कुछ है ही नहीं, तो फिर सान्त और अनन्त की सीमा भी नहीं हो सकती। सभी अनन्त है। ऐसी दशा में छायावाद का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। ईश्वर की सत्ता सर्वोपरि अवश्य हो, पर

आत्मा की सत्ता संसार में एक स्थान रक्खे।

इन्हीं चार बाधाओं से छायावाद के सुन्दर रूप में चेचक के दाग निकल सकते हैं। हिन्दी में शुद्ध और स्वाभाविक छायावाद है ही नहीं। यदि कहीं उसकी झलक पाई जाती है तो "प्रसाद" और "एक भारतीय आत्मा" की कविताओं में ही थोड़ी बहुत। देखिए—

इसी हम को तुम ले लो नाथ,
न लूटो मेरी कोई वस्तु।
उसे दे दो करुणा के हाथ,
सभी हो गया तुम्हारा अस्तु।
लोग जब रोने लगते हैं,
तभी हम हँसने लगते हैं।

—प्रसाद

वर्त्तमान हिन्दी छायावादी कविता पर एक दोष यह आरोपित किया जाता है कि उसमें पिंगल पर ध्यान नहीं दिया जाता, छन्दों की गति-यति पर विचार नहीं किया जाता। मात्राओं की कमी-बेशी हमेशा नज़र के सामने आती है। छन्द एक बरसाती नदी के समान उमड़ता हुआ आ कर एक ओर बह जाता है। पुराने छन्दों के रसिक इस बात पर बहुत बुरी तरह खफा हैं। वे कहते हैं, अजी वह भी कोई कविता है जिसमें न छन्द पर ध्यान दिया जाय, न मात्रा पर। चले साहब कविता करने। कुछ शब्द जोड़कर रख दिये और बस बड़ी पुष्ट कविता हो गई। ऐसे कवि भाषा को एक खिलौना समझकर तोड़

डालना ही जानते हैं।

पर यदि हमारे पुराने 'लकीर के फकीर' आचार्य ध्यान दें तो उन्हें इस कविता की सार्थकता भली प्रकार ज्ञात हो जायगी। मनोवेगों के लिए बन्धन भारी बाधक है। रोने की ध्वनि किसी छन्द पर नहीं चलती और न हँसने के लिए ही घनाक्षरी काम में लाया जा सकता है। इतने पर भी हँसी और रुदन जीवन की मुख्य कविताएँ है। मन के स्वाभाविक विचार आप से आप उमड़ कर निकल पड़ते हैं। वे ही सच्ची कविता के रूप हैं; रोला या दोहा के बाह्यरूप नहीं। कबीर को क्या छन्द का ज्ञान था ? मीरा ने कौन-सा पिंगल पढ़ा था ? पर क्या हिन्दी को उन पर अभिमान नहीं है ? क्या कोई उनकी रचना को कविता नहीं कहता। फिर वर्तमान कविता पर ही यह लांछन क्यों ? एक अँगरेजी लेखक का कहना है—

भाषा का स्वामी वह है जो संगीतमय भावों का प्रदर्शन करते हुए भाषा के साधन को भूल सकता है।❀

जब कोई भाव-मग्न होकर राग छेड़ता है तो उसे ध्यान नहीं रहता कि बाजे का ताल-स्वर किस ओर है। उसे केवल इस बात का ध्यान रहता है कि मेरा मनोभाव किस प्रकार व्यक्त हो। जिस प्रकार उषा का रंग बिखरे हुए बादलों में सजा हुआ मालूम होता है उसी प्रकार सच्ची छायावादी कविता का

❀The master of language is he who can forget his instrument while he is expressing his thought in music.

भाव बिखरे हुए शब्दों में भी सज्जित किया जा सकता है। कविता के लिए छन्द नितान्त आवश्यक भी नहीं। यदि पंक्तियों में सम्बद्धता और नाद हो तो उनसे भी उत्कृष्ट कविता की रचना हो सकती है।

इस प्रकार की कविता में हृदय को सन्तोष या सुख देने वाली वस्तुओं और उनके विषय की कल्पनाओं की सृष्टि बड़ी अच्छी तरह से होती है। नेत्रों को सुख पहुँचाने वाली वस्तुओं का रूप-चित्रण मनोहर भाँति से किया जाता है। ये तारे क्या हैं? कैसे निकलते हैं? कहाँ जाते हैं? यह लता क्यों फूलती है? लहरों में युवती के मन के समान चंचलता क्यों है? फूलों के रंगों में कौन हँसता है! बिजली बार-बार निकलकर किसे बुलाती है? बस कवि के हृदय में ये ही प्रश्न बार-बार उठा करते हैं। कवि मानो एक शिशु बनकर प्रकृति माँ की गोद में बैठ कर हँस-हँसकर साधारण सी बातें पूछा करता है। माँ, यह कौन हँसता है, वह कौन रोता है? कवि भोला मालूम पड़ता है! प्रकृत-संसार की रीतियाँ नहीं जानता—नहीं पहचानता। फूल को फूल कहने में हिचकता है। पं० सुमित्रानन्दन की कविता में ऐसे भावों की सुन्दर लड़ियाँ सजी हुई हैं। देखिये—

अरी सलिल की लोल हिलोर।
यह जग कैसा स्वर्गीय हुलास
सरिता की चंचल दृग कोर।
यह जग का अविदित उल्लास
आ मेरे मृदु अंग झकोर।

नयनों में निज छवि को बोर
मेरे उर में भर यह रोर॥

श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता में भी इसी भाव की झलक है। वे मानो सदैव ही प्रकृति के अनेक चित्रों की छवि मुग्ध-भाव से देखा करती हैं। उनकी कविता में एक विशेष बात है जो हम अन्य कवियों की कविता में नहीं पाते। वह यह कि उनकी कविता अधिकतर करुणा के आँसुओं में डूबी रहती है। वे अपनी मनोवृत्तियों को सदैव प्रकृति के निराश और करुण संसार में ले जाकर छोड़ देती हैं—

जाने किस बीते जीवन का,
सन्देसा दे मन्द समीरन।
छू लेता अपने पंखों से,
मुरझाये फूलों के लोचन।
उनके फीके मुसकाने में, फिर अलसाकर गिर जाने में।
आँखों की नीरव भिक्षा में,
आँसू के मिटते दागों में।
ओठों की हँसती पीड़ा में,
आहों के बिखरे त्यागों में।
रज-रज में फैला है निर्मम, मेरे मानस का सूनापन।

एक बार मैंने भी प्रकृति से पूछा था कि—

इस सोते संसार बीच,
जगकर सजकर रजनी वाले!

कहाँ बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले।
मोल करेगा कौन सो रही
हैं उत्सुक आँखें सारी।
मत कुम्हलाने दो सूनेपन
में अपनी निधियाँ न्यारी।

... ...

यदि प्रभात तक कोई आकर तुमसे हाय, न मोल करे।
तो फूलों पर ओस-रूप में बिखरा देना सब गजरे॥

इसके पर्याय इस समय के व्रजभाषा के पुजारियों की तरफ देखिये। वे अभी तक पुराने स्वरों में ही कविता की बाँसुरी बजाते हैं। समय हो या न हो, पर सभी समय वही राग। देश की स्थिति में व्रज का शृंगार श्मशान में नृत्य के समान है। दिन में भैरव का राग अच्छा लगता है, रात में उसकी जरूरत क्या! रात में तो विहाग का स्वर होना चाहिये। पर हमारे व्रजभाषा के प्रेमियों को वही पुराना राग पसन्द है। यह देखकर मुझे एक उर्दू शायर का यह शेर याद आ जाता है—

शिकवा करते हो तुम सुहाग के वक्त।
भैरवी गाते हो विहाग के वक्त॥

हमारे व्रजभाषा के कवि वही अपनी ढपली बजा रहे हैं। उनकी नायिकाएँ अभी तक बूढ़ी नहीं हुईं। वे अभी तक अज्ञात-यौवना और ज्ञात-यौवना के नशे में सराबोर हैं। बूढ़े कवियों के हृदय में अभी तक वे ही नायिकाएँ बसी हैं। वे अभी तक उनसे

अभिसार करवाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि अब भी उनकी नायिका उनके लिए सेज सजाकर "वासक-सज्जा" बने। उनके विरह में दो हाथ ऊँची आग की लपट अपने शरीर से निकाले और अपनी सखी से कहलावे—

वाके तनताप की कहौं मैं कहा बात मेरे,
गात ही छुए तें तुम्हें ताप चढ़ि आवेगी।

इसमें हमें वेदना का अनुभव नहीं होता। हम यह अनुभव नहीं करते कि नायिका के हृदय में भारी वेदना है और उसकी वेदना के फलस्वरूप हमारे हृदय में भी मानवीय विचारों के स्वभाव-साम्य के कारण वेदना हो। हम तो दुःख अनुभव करने के बदले छन्द की बन्दिश और बारीक खयाली पर 'वाह-वाह' और 'मुकर्रर-इरशाद' कह देंगे। यह कविता नहीं; शब्दों का इन्द्रजाल है। देखिये—

सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,,
घहर घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर झहर झुकि झीनी झरि लायो देव,
छहर छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर हहर हँस हँस कै हिंडोरे चढ़ी,
थहर थहर तन कोमल थहरिया।
फहर फहर होत प्रीतम को पीत पट,
लहर लहर होत प्यारी की लहरिया॥

पाठकगण ही सोचें कि इसमें किस आन्तरिक भाव का चित्रण किया गया है। सच्ची कविता हृदय-अनुभूति का नक्शा

है, फिर इसे हम सच्ची कविता क्यों कर कहें ?

मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि व्रजभाषा सारहीन और रद्दी है, साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं। मैं सूर और मीरा की कविताओं को हिन्दी-साहित्य की सर्वोच्च सीमा मानता हूँ। पर सूर, मीरा आदि कुछ कवियों को छोड़कर किस कवि में आन्तरिक भावों के खींचने की क्षमता हो सकी ? प्रायः सभी यमक और अनुप्रास पर लट्टू हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला के गुलाम हैं—नायक-नायिकाओं के आशिक हैं। भला इस समय ऐसी बातों की आवश्यकता क्या ? बहुत अभिसार हुआ, बहुत सेज सजी, आँसू बहे, बहुत मान हुआ, बहुत ज्ञात और अज्ञात यौवन की मस्ती और भोलापन प्रकट हुआ। अब इनका समय गया। यह है नवयुग। देश के दासत्व में वीर का विस्तार हो, शृङ्गार का नहीं; उत्साह और उमंग की वांछा हो, रति की नहीं। आजकल की व्रजभाषा की कविताओं में वही शाब्दिकता है। देखिये—

बीत गयो ग्रीषम व्यतीत भयो ताप दाप,
        बारबार सीतल समीर तरजै लगे।
पथिक पधारे निज गेह में सनेह धरे,
        हरे हरे पातवारे तरु लरजै लगे।
दमकि दिमाक तें डरति दुति दामिनी की,
        मुदित मयूर मन मौन बरजै लगे।
घरी घरी घेर घेर घुमड़ि घमंड भरे,
        घास से घनेरे घन घोर गरजै लगे।

इस समय रत्नाकर जी व्रजभाषा के प्रमुख कवि माने जाते हैं।

अब हमें देशभक्ति-सम्बन्धी कविताओं पर विचार करना है। वास्तव में इसी प्रकार की कविताओं की वर्तमान समय में आवश्यकता है। देशभक्ति का मतलब निस्वार्थ भाव से अपने देश की सेवा अथवा उसकी उन्नति के लिए साधन सोचना और उन्हें जुटाना है। देशभक्ति शब्द से देश का अस्तित्व जाना जाता है। जब तक किसी देश के वासियों में अपने देश के अस्तित्व का ध्यान नहीं होगा, तब तक देशभक्ति की कविता हो ही नहीं सकती। इंगलैंड में भी तेरहवीं शताब्दी तक देशभक्ति की कोई कविता नहीं थी; क्योंकि उस समय अंग्रेजों को अपने देश की स्थिति का ज्ञान नहीं था। हमें पहले पहल खड़ी बोली की कविता में देशभक्ति की ध्वनि बाबू हरिश्चन्द्र की कविता में मिलती है। 'भारत-दुर्दशा' में उन्होंने अपने देशभक्ति के विचार कूट-कूटकर भर दिये हैं। पर उनके बाद उनके परवर्ती कुछ कवियों में हम इस भाव का प्राधान्य नहीं पाते। अभी सन् १९२० में असहयोग-आन्दोलन के समय भारतवासियों को अपने देश का वास्तविक ज्ञान और अभिमान हुआ है। उसी समय से सच्ची देशभक्ति की कविताओं का रचना-काल प्रारम्भ होता है। इन कविताओं में देश के प्रेमियों का प्रेम है—भक्ति है, और सच्ची लगन है। देखिये—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ॥

चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ॥
मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

—एक भारतीय आत्मा

वर्तमान समय में देशभक्ति-सम्बन्धी कविताओं को ही रचना होनी चाहिए। उत्साह और सेवा की महान वृत्तियों का उदय कर भारतीय हृदय को देश के हृदय से मिला देना चाहिये।

अब तुक्कड़बाजों का विचार करना चाहिये। देश में ये तुक्कड़ बरसाती मेंढकों की भाँति बढ़ रहे हैं। इनसे साहित्य सज्जित होने के बजाय और भी गंदा होता है। जिसे देखिए वही अपने कागज़ पर कविता की चार पंक्तियाँ लिखे बैठा है। न भाव का ज्ञान है न भाषा का, पर बनना चाहते हैं पूरे कवि। उन्हें अपनी कविता में कुछ शब्दों के लाने की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। वे शब्द हैं वीणा, हृत्तंत्री के तार, बलिवेदी आदि। ये ही कवि छायावाद के नाम को बदनाम करते हैं। वे लिखते हैं—

ओ प्राणाधिक ! ओ अल्पवयस्का !
ओ अस्फुट कुन्द कली प्यारी !
सदा फूल की तरह यत्न से रक्खा था मैंने तुमको
किन्तु अब
इन बातों में क्या है ?

उसके प्रति—

जिसके जीवन की घड़ियाँ इति हो चुकीं !

इत्यादि ।

न भावों में तारतम्य है और न शब्दों में। एक अजीब पहेली है। यह अपराध क्षम्य है या अक्षम्य, यह प्रश्न स्वयं उनके हृदयों से पूछना चाहिये।

———

कहानी

हिन्दी में कहानियों का अभी शैशव ही समाप्त हुआ है। वे अपने निर्बल और अशक्त अंगों से अभी कला की गोद में ही खेल रही हैं। न उनमें अभी प्रौढ़ता आई है और न शारीरिक शक्ति ही। उनमें अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारी कहानियाँ दुध-मुँहे शब्दों से कुछ कहती हैं तो हमें उनके दोषमय मीठे शब्दों में वही आनन्द लेना चाहिये जो माता-पिता अपने शिशु के अस्फुट शब्दों के सुनने पर अनुभव करते हैं। अभी हमें कहानियों में शक्ति डालनी है, उन्हें कला के अंग सिखलाना है, उनमें व्यावहारिक ज्ञान का कोष भरना है। जिस दिन ऐसा होगा उस दिन हम अपनी कहानियों को आदर्श साहित्य के आसन पर बिठला देंगे। उस दिन की प्रतीक्षा हमें शीघ्र ही करनी चाहिए। प्रेमचंद की कला के प्रभात में हम नवीन स्फूर्ति का अनुभव कर रहे हैं।

एक बात ध्यान में रखने योग्य है। वह यह कि एक शिशु का जितनी ही सावधानी से पालन पोषण होगा, उसकी जितनी ही परवाह की जायगी, वह भविष्य में उतना ही बलवान, उन्नतिशील तथा कर्मशील होगा और दूसरी ओर यदि शिशु का पोषण असावधानी अथवा लापरवाही से होगा तो उसका भविष्य जीवन उतना ही अन्धकार-पूर्ण और निराशामय होगा।

यह बात हमें अपनी कहानियों के सम्बन्ध में याद रखनी चाहिए। हम जितनी ही सावधानी से अपनी कहानियों में शक्ति का समावेश करेंगे, वे भविष्य में उतनी ही उन्नति करेंगी। इसके विपरीत यदि हम अपनी कहानियों को लापरवाही और असावधानी से छोड़ देंगे तो हमारा कहानी-साहित्य भविष्य के अंधकार में ऐसा डूब जायगा कि उसका फिर हमें पता भी न चलेगा। इसलिए हमें अभी से अपने कहानी-साहित्य की श्री-वृद्धि करने के लिए सावधानी से काम लेना चाहिये, अन्यथा हम एक ओर चले जायँगे और हमारा कहानी-साहित्य दूसरी ओर।

हमारी कहानी का जन्म उस समय होता है जब संसार के स्त्री-पुरुष परस्पर एक दूसरे के विषय में सोचने लगते हैं, अथवा मानव-सृष्टि अ-मानव सृष्टि से सम्बन्ध जोड़ती है। ऐसी दशा में यह आवश्यक नहीं है कि इसका परिणाम उपदेश ही हो। मानव तथा अ-मानव जाति के विषय में कुछ रोचक बातों का स्पष्टीकरण पारस्परिक रूप में कर देना ही कहानी के अस्तित्व का उदाहरण है। इस प्रकार यदि क्रम-विकास के अनन्त काल पर दृष्टि डाली जाय तो हमें जहाँ तक मानव और अ-मानव जाति का सम्बन्ध मिलेगा वहाँ कहानी के "कीटाणु" (!) भी मिल सकेंगे। अभी बहुत दिन नहीं हुए, जब हमारी वृद्ध माताएँ सोते समय मानव और अ-मानव जाति की कहानियाँ सुनाया करती थीं। अतः मानना होगा कि इनकी उत्पत्ति अनन्तकाल से है।

वैदिक भारतवर्ष में अनन्तकाल से अनेक प्रकार की दन्त-

कथाएँ प्रचलित थीं। उन्हें हम किसी विशेष नाम से नहीं पुकार सकते। इसके पश्चात् दूसरी स्थिति वह आई जब इन्हीं दन्त-कथाओं के सहारे उपदेश-सामग्री जनता में फैलाई जाने लगी। उस समय इन दन्तकथाओं का उद्देश्य एक मात्र उपदेश देना ही था। जिस स्थिति में दन्तकथाओं ने उपदेश का रूप ग्रहण किया उस समय का निरूपण हम ठीक ठीक नहीं कर सकते। ऋग्वेद की ऋचाओं से हमें वास्तविक दन्तकथाओं अथवा कहानियों की आशा नहीं करनी चाहिये। उनमें तो एक मात्र स्तोत्रों की भरमार-सी है। जहाँ देवताओं का वर्णन और कुछ-कुछ यज्ञ-याग ही मुख्य उद्देश्य है; वहाँ हमें कहानी और अल्हड़-पन के साहित्य की आशा नहीं करनी चाहिये। किन्तु यह अवश्य है कि हम ऋग्वेद में साहित्य की ऐसी स्थिति अवश्य पाते हैं जहाँ मानव-स्वभाव की विशेषताएँ और उनके गुण अ-मानव स्वभाव में प्रतिबिंबित किये गये हैं। उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद में सप्तम मण्डल की १०३ ऋचा में यज्ञ के समय पाठ करते हुए श्रोत्रियों की ध्वनि की मेंढकों की ध्वनि से समानता प्रदर्शित की गई है। इस ऋचा का उद्देश्य चाहे जो हो, किन्तु इतना अवश्य है कि हम इस ऋचा में मानव तथा अ-मानव जाति में पारस्परिक सम्बन्ध की विशेष झलक पाते हैं। यही बात विस्तृत रूप में हम उपनिषदों में--विशेष कर छान्दोग्य उपनिषद् में—पाते हैं। जहाँ युवक सत्यकाम ने प्रथम बैल से, फिर राजहंस से और तदुपरान्त एक जलपक्षी से शिक्षा पाई। वस्तुतः इन कहानियों का उद्देश्य यद्यपि उपदेशपूर्ण नहीं

था तथापि इस प्रकार की कहानियों ने उपदेशमय कथाओं के आविर्भाव होने का मार्ग दिखला दिया था। कथाओं की यही स्थिति हम अपनी बूढ़ी दन्तहीन दादियों से सुना करते हैं। किस प्रकार एक शेर ने मनुष्य से मित्रता की, किस प्रकार एक पक्षी ने स्त्री को गाने सुनाये अथवा किस प्रकार एक सर्प ने कौए अथवा मनुष्य से मित्रता कर उसे अन्त में धोखा दिया, इत्यादि। उपनिषदों के बाद हमने इन्हीं कहानियों का अस्तित्व महाभारत आदि महाकाव्यों में पाया है। किस प्रकार एक दुष्ट बिल्ली ने साधु-वेश रख कर चूहों को धोखा देकर उन्हें अपने चंगुल में फँसा लिया!—इन्हीं भावों के आधार पर पंचतन्त्र की कथाओं का निर्माण होता है। एक चालाक सियार ने अपने साथियों (शेर, चूहे, हरिण, भेड़िये) को उन्हीं की सहायता से पाये हुए शिकार को स्वयं लेकर शेष चारों को चलता किया था! कुरु-पांडव के व्यवहार की तुलना उपर्युक्त कथा से साम्य रखती है। इसी समय भारहुत शिलालेख से ज्ञात होता है कि बौद्धमत के प्रवर्त्तकों ने इसी भाँति की कथाओं का उपयोग मानव और अ-मानव के बीच में घनिष्ट सम्बन्ध जोड़ने में किया था। यहाँ तक कि जीव के आवागमन की कथाएँ भी पशु और मनुष्य-रूप में प्रदर्शित की थीं। उन्होंने जातक कथाओं में पशु-जीवन की कहानियों द्वारा बुद्ध भगवान तथा उनके समकालीन व्यक्तियों का महत्त्व और उनके पूर्वजन्म के महान कर्मों का दिग्दर्शन पूर्णरूप से कराया है। अतः हम महाभारतादि और पतञ्जलि के भाष्य के आधार पर यह विश्वस्त रूप से कह सकते हैं कि

पशुओं की मानवों से सम्बन्ध रखनेवाली कहानियाँ पर्याप्त रूप से प्रचलित थीं, यद्यपि अभी तक इन्हें कोई साहित्यिक रूप नहीं दिया गया था। इन कथाओं का रूप उस समय साहित्यिक होता है जब वे उपदेश का स्वरूप ग्रहण कर नीति और अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखती हैं। पंचतन्त्र की कथाओं से प्रकट होता है कि इस समय इन कथाओं के निर्माण करने का उद्देश्य धर्म-शास्त्र का प्रतिपादन करना था । ऐसी स्थिति में ऐसी कथाओं का तात्पर्य सदैव पद्य में रखा जाता है, जिससे वे पढ़ने अथवा सुननेवाले के हृदय में धर्मतत्त्व की चिरस्थायी मूर्ति अंकित कर सकें। ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार के उपदेशपूर्ण पद्यों का समावेश है।

इसके पश्चात् हम गुणाढ्य की वृहत्कथा पर आते हैं । कम्बोडिया के एक शिला-लेख से पता चलता है कि गुणाढ्य का समय ६०० ईस्वी के पूर्व ही था । इसकी भाषा प्राकृत थी, किन्तु दुर्भाग्य से इस ग्रन्थ का पता ही नहीं चलता । इसके पश्चात् कहानी लेखनकाल गहरी नींद में सो जाता है और ६०० अथवा ७०० ईस्वी के लगभग सुबन्धु की वासवदत्ता, दण्डी के दशकुमार, तथा बाण की कादम्बरी और हर्षचरित का स्वरूप मिलता है। ये भावों में मौलिक होते हुए भी गुणाढ्य की बृहत्कथा की कहानियों के आधार पर कही जा सकती हैं । संस्कृत-साहित्य में कहानियों के लिए दो नाम मिलते हैं—(१) कथा और (२) आख्यायिका।

कथा पारस्परिक वार्तालाप अथवा काल्पनिक वर्णन है

और आख्यायिका प्रथम पुरुष में जीवन की भिन्न-भिन्न स्थितियों का वर्णनात्मक ढँग। यह तो हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य की कहानी अथवा आख्यायिका का इतिहास है। प्राचीन साहित्य की इन्हीं कथाओं के मानवीय और अमानवीय प्राणियों के भावों में ओत-प्रोत होते हुए अब हम अपने विषय की ओर आते हैं।

भारतीय साहित्य-गगनमण्डल में भी कुछ कहानियों की सृष्टि हुई। संवत् १६२९ विक्रमी के लगभग गोकुलनाथ जी ने 'चौरासी वैष्णवन को वार्ता' लिखी जिसमें वैष्णव धर्म के प्रतिपादन का यथेष्ट प्रयत्न किया गया था।

"तब दामोदरदास हरसानी ने विनती कीनी जो महाराज आप याको अंगीकार कब करोगे। तब श्री आचार्य्यजी महाप्रभून ने दामोदरदास सों कह्यो जो यासों अब वैष्णव कौ अपराध पड़ैगो तो हम याकौ लक्ष जन्म पाछै अंगीकार करेंगे।"

(चौरासी वैष्णवन की वार्ता)

इसके पश्चात् हमें जटमल रचित 'गोरा बादल की कथा' मिलती है जिसका रचना-काल संवत् १६८० के लगभग है।

"गोरे की भावरत आवे का वचन सुनकर अपने षावंद की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुई सो सिवपुर में जाके वाहा दोनों मेले हुवे।

× × × ×

उस जगा आलीषान बावा राज करता है मसीह वाका लड़का है सो सब पठानों में सरदार है जयसे तारों में चन्द्रमा सरदार है

ओयसा वो है।"

(गोरा बादल की कथा)

इसके बाद हमें लल्लूलाल, सदल मिश्र और इंशाअल्ला खाँ की कथाएँ मिलती हैं। वे इस प्रकार हैं—

लल्लूलाल—

इस बीच अति व्याकुल हो सुध बुध देह की बिसारे मन मारे रोती यशोदा रानी उद्धव जी के निकट आय रामकृष्ण की कुशल पूछ बोली, कहो उद्धव जी, हरि हम बिन वहाँ कैसे इतने दिन रहे और क्या संदेशा भेजा है कब आय दर्शन देंगे। (प्रेमसागर)

सदल मिश्र—

इतनी कह ऋषि के चरण पर गिर पड़े। अति प्रसन्न हो मुनि उठा पीठ ठोंक आसीस दे बोले कि धन्य हो राजा रघु ! क्यों न हो। मुँह पर कहाँ तक बड़ाई करें। भगवान् ने तुमको बड़ी बुद्धि दी है। ईश्वर करे यों ही सदा फूले रहो और यह हमारो यौतुक को हाथी घोड़े द्रव्य तुम्हारो ही घर में रहे, क्यों बन के बसने वाले तपस्वियों को इनसे क्या काज ?

(नासिकेतोपाख्यान)

इंशाअल्ला खाँ—

यह बात सुनकर वह जो लाल जोड़ेवाली सबकी सिरधरी थी, उसने कहा—जी बोलियाँ ठोलियाँ न मारो और इनको कह दो जहाँ जी चाहे अपने पड़ रहें; और जो कुछ खाने को माँगें, उन्हें पहुँचा दो। घर आए को आज तक किसी ने मार नहीं डाला। इनके मुँह का डौल गाल तमतमाए और होंठ पपड़ाए और घोड़े का हाँपना और

जी काँपना और ठंढी साँसे भरना, और निढाल हो गिरे पड़ना इनको सच्चा करता है। बात बनाई हुई और सचौटी की कोई छिपती नहीं, पर हमारे इनके बीच कुछ ओट कपड़े लत्ते की कर दो। इतना आसरा पाके सबसे परे जो कोने में पाँच सात पौदे थे, उनकी छाँव में कुँवर उदैभान ने अपना बिछौना किया और कुछ सिरहाने धरकर चाहता था कि सो रहें पर नींद कोई चाहट की लगावट में आती थी ? जब रात साँय साँय बोलने लगी और साथवालियाँ सब सो रहीं तो रानी केतकी ने अपनी सहेली मदनबान को जगाकर यों कहा।"

(रानी केतकी की कहानी)

ऊपर की कथाओं में गोकुलनाथ की वार्ताएँ तो जीवन चरित्र का रूप हैं। जटमल, लल्लूलाल और सदलमिश्र की कथाएँ ऐतिहासिक या धार्मिक हैं। कहानी के आदर्शों की पूर्ति तो इंशा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से होती है। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने भी 'राजा भोज का सपना' शीर्षक एक कहानी लिखी है किंतु वह केवल धार्मिक उपदेश का रूपान्तर है।

इसके बाद भारतेन्दु जी ने एक कहानी 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' लिखी। वह वास्तव में हास्यरसपूर्ण सुन्दर और सफल कहानी है।

इस समय तक हिन्दी यथेष्ट परिष्कृत हो गई थी और उसकी शैली में रोचकता का आविर्भाव हो गया था। ऐसे ही समय में कहानियों का रूप 'किस्सा साढ़े तीन यार,' 'बेटा

पूतबुलाखी,' 'सारंगा सदावृत्त' ने रक्खा और उपन्यासों का 'चन्द्रकान्ता सन्तति' आदि ने। इनमें कुछ सार अथवा तथ्य नहीं था। अभी कोई १५-२० वर्ष हुए कि कलामय कहानियों का कलाधर फिर हिन्दी आकाश-मण्डल में चमकने लगा है। संक्षेप में यही कहानी की कहानी है।

अब हम कहानी के विविध अंगों पर दृष्टिपात करेंगे। कहानी मुख्यतः पाँच अंगों में विभाजित की जाती है। प्रथमतः कहानी उन घटनाओं और कार्यों से सम्बन्ध रखती है जो पात्रों द्वारा किये जाते हैं और वही कथानक का रूप ले लेते हैं। दूसरे, ऐसी घटनाएँ जिन व्यक्तियों पर घटित होती हैं अथवा जो व्यक्ति कथानक का कार्य करते हैं—वे ही पात्र कहलाते हैं। पात्र जो वार्तालाप करते हैं वही कथोपकथन कहलाता है। जिस भाषा अथवा रीति से कथानक सज्जित होता है उसी में शैली का अस्तित्व रहता है और लेखक जो जीवन का लक्ष्य दिखलाना चाहता है वही आदर्श कहानी के सम्मुख रहता है। अब हम क्रमशः इन्हीं पर विचार करेंगे। उपन्यास के भी यही अंग हैं, अतः ये उपन्यास पर भी घटित हो सकते हैं।

पहले हम कथानक को लेते हैं। हमें कथानक पर दिग्दर्शन करने के पूर्व यह सोचना चाहिए कि हमारे कथानक का सामान कैसा है, वह नींव कैसी है जिस पर हमारे कथानक का महल खड़ा होगा। हम किसी भी बड़े कहानी-लेखक की कहानी लें तो उसी क्षण यह ज्ञात जायगा कि उसके कथानक का सम्बन्ध जीवन की गहरी से गहरी विवेचना से है। कहानी-लेखक जीवन

की तुच्छ बातों से सम्बन्ध नहीं रखते, उनकी आँखों में साधारण जीवन की घटनाएँ उसी प्रकार आकर निकल जाती हैं जिस प्रकार संध्या समय के बादल का एक टुकड़ा। उनकी आँख ऊपरी अस्तित्व पर रुकती ही नहीं है। उनकी अन्तर्दृष्टि जाती है हृदय के उन्माद में, हृदय की विरोधक शक्तियों की ओर, जीवन की कठिन और गूढ़ समस्याओं की ओर और भावों की प्रांजल लड़ियों की ओर। ऐसी स्थिति ही में उनके कथानक में जीवन की शक्तियाँ रहती हैं और विश्व की क्रांतियाँ निवास करती हैं। उनका कथानक जीवन से इस प्रकार गुथा रहता है मानों वह उसका एक अंग हो। उनकी कथा का सामान जीवन का प्राण रूप रहता है और संसार के दुख-सुख की वेदना और हर्ष-ध्वनि में घुला रहता है। यही कथानक जीवन में सदैव के लिए अपनी स्मृति छोड़ जाता है। बाबू प्रेमचन्द रचित "रानी सारंधा" का अंत जीवन की एक अनंत वेदना लिये गूँजता रहता है। देखिये—

"रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिये।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो तुमने वचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँपकर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ! इसके आगे वह और कुछ न कह सकी, आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जवित नहीं रहना चाहता।

रानी—मुझ से यह कैसे होगा?

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझला कर कहा—इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ लपके। राजा ने नैराश्य-पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षणभर अनिश्चित रूप से खड़ी रही। लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान हो जाती है। निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपककर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी।

कैसा करुण दृश्य है! वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी; आज उसकी प्राणघातिका है। जिस हृदय से आलिङ्गित होकर उसने यौवन सुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषाओं का केन्द्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को आज सारन्धा की तलवार छेद रही है। किसी स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है?

आह! आत्माभिमान का कैसा विशादमय अन्त है! उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्म-गौरव की ऐसी घटनाएँ नहीं

मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य देखकर दंग रह गये। सरदार ने आगे बढ़कर कहा—

रानी साहबा! खुदा गवाह है; हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो उसे बसरोचश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।

यह कह कर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिरी तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था!"

ऐसे उत्कृष्ट कथानक में प्रथम जो बात देखनी चाहिये वह प्रवाह है। अच्छे लेखकों का यह लक्षण है कि उनका कथानक पारे की भाँति प्रवाहित होता है। घटनाओं का तारतम्य ऐसा बँधा रहता है कि वर्णन प्रवाह बड़ी सुन्दर गति से बिना विरोध के कहानी के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है। भाषा की झंझटें प्रवाह के सामने आती ही नहीं। जब कथानक मन्दाकिनी की भाँति बहने लगता है तो उसे भाषा अथवा मुहावरों की शिलाएँ नहीं तोड़नी पड़तीं। घटनाओं के संसर्ग में स्वच्छन्द रीति से प्रवाह ऐसे बढ़ता चला जाता है जैसे गर्मी के प्रवाह से पारा बिना किसी रुकावट के थर्मामीटर में बढ़ता चला जाता है। वहाँ घटनाएँ स्वयं कथानक को बिना किसी रुकावट के बढ़ाती रहती हैं। इसके विपरीत कई कथानक ऐसे होते हैं जो भाषा के रस्से से आगे घसीटे जाते हैं। स्वयं कथानकों में कोई

प्राण नहीं रहता, भाषा ही उनको धक्के देकर रास्ते पर लाती है। ऐसे कथानकों का प्रवाह किसी ऊबड़-खाबड़ ज़मीन की भाँति होता है। कहीं कथानक शीघ्रता से बढ़ गया, कहीं वह घंटों खड़ा रहा गया, कहीं इक्के वाले के सुस्त घोड़े की भाँति धीरे-धीरे चला। पहले प्रकार उदाहरण का प्रेमचन्द रचित "नमक का दारोगा" में और दूसरे प्रकार का उदाहरण सुदर्शन रचित "न्याय-मंत्री" में पाया जा सकता है।

कथानक में ध्यान देने योग्य जो दूसरी बात है वह यह है कि कथानक के अंग आपस में जुड़े हुए हैं, अथवा छिन्न-भिन्न। जिस कथानक के अंग छिन्न-भिन्न होते हैं उसमें भिन्न-भिन्न घटनाएँ एक कच्चे धागे के सहारे गूँथ दी जाती हैं। उनमें पारस्परिक सम्बन्ध रहता ही नहीं। कथानक का विकास कार्य-विकास पर न हो कर किसी ऐसे रूपक अथवा ऐसी घटना पर होता है जिसके चारों ओर बिखरी हुई घटनाएँ कच्चे धागे से जुड़ी रहती हैं। ऐसी कहानी किसी व्यक्ति विशेष के कार्यों के इतिहास का रूप ले लेती है। बाबू राजेश्वरप्रसादसिंह की "अंतर्द्वन्द" कहानी देखिये—

"कमला ने मायके में एक बात सीखी थी कि धन मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है। किन्तु बाबू साहब इस सिद्धान्त से सहमत नहीं थे। वह धन को आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन ही नहीं, वरन् उपासना की वस्तु भी समझते थे।

मायका विशेष सम्पन्न तो न था, किन्तु वहाँ कमला को वे सभी सुख थे जो सधारणतया लड़कियों को माता-पिता के घर प्राप्त होते

हैं। अपने माता-पिता की अकेली बेटी होने के कारण मायके में कमला का विशेष मान था। उसे पूर्ण स्वतन्त्रता थी, उसकी इच्छाशक्ति पर किसी दूसरे का आधिपत्य न था, किन्तु ससुराल में परिस्थिति और थी। वहाँ स्वतन्त्रता नहीं पराधीनता थी।

हृदयनारायण के स्वभाव में सुरुचि का अभाव था। एक वेश-भूषा को ही ले लीजिये। आपका कोई वस्त्र ऐसा न था जो अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ न गिन रहा हो।

अपने चिर-सञ्चित स्वप्नों का इस प्रकार खून होता देखकर कमला रो पड़ी। घर काटे खाता था। उसका चित्त हर समय मुरझाया हुआ-सा रहता, किसी से बात-चीत करना अच्छा न लगता। अन्न-जल से अरुचि होने लगी।

शनैः शनैः दिन बीतने लगे। जब कमला का स्वभाव पति के स्वभाव से लड़ते-लड़ते पूर्णतया शिथिल हो गया, तो प्रति-क्रिया का आरम्भ हुआ। घर की काट खाने वाली प्रवृत्ति मंद पड़ने लगी। धीरे-धीरे वह उस घर से हिलमिल गई और वहाँ के जीवन से भी। नारी सुलभ समर्पण की सद्वृत्ति ने पुरुष के रौद्ररूप के सम्मुख सिर झुका दिया।"

यहाँ कमला का स्वभाव, मायके का दिग्दर्शन, हृदयनारायण का स्वभाव, कमला की निराशा और अंत में उसका संतोष, ये सब बातें एक कच्चे धागे से बाँध कर आगे बढ़ाई गई हैं।

जिस कथानक के अंग आपस में जुड़े रहते हैं वे स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ते हैं, जिस प्रकार प्रातःकाल उषा का विकास होता है। एक अंग का दूसरे अंग से पूरा और घनिष्ठ सम्बन्ध

होता है । यदि एक घटना छूट जाय तो सारा कथानक टूटी जंजीर के समान झूलने लगता है । सारी घटनाओं के पीछे एक शक्ति रहती है जो उनको यथा-स्थान सजाकर सेना-नायक की भाँति संचालित करती है । घटना में पात्र सजे रहते हैं और पात्रों में घटनाएँ सजी रहती हैं। ये समस्त शक्तियाँ मिल-कर अन्तिम फल की ओर बढ़ती हैं और अन्त में उसे पा लेती हैं। उदाहरण-स्वरूप श्री प्रेमचंदजी की "स्तीफा" शीर्षक कहानी लीजिये—

"साहब ने कहा—दौड़कर जाओ।

फतह—हुजूर मुझसे दौड़ा नहीं जाता।

साहब—ओ, तुम बहुत सुस्त हो गया है । हम तुम को दौड़ना सिखायेगा ! दौड़ो ! (पीछे से धक्का देकर) तुम अब भी नहीं दौड़ेगा ?

यह कहकर साहब हंटर लेने चले।

वे बेतहाशा भागे और फाटक से बाहर निकलकर सड़क पर आगये ।

× × × ×

घर में जाते ही शारदा ने पूछा—किस लिए बुलाया था ? बड़ी देर हो गई !

फतहचन्द ने चारपाई पर लेटते हुए कहा—नशा की सनक थी और क्या ? शैतान ने मुझे गालियाँ दीं, ज़लील किया । बस यही रट लगाये हुए था कि देर क्यों की । निर्दयी ने चपरासी से मेरा कान पकड़ने को कहा।

शारदा ने गुस्से में आकर कहा—तुमने एक जूता उतार कर दिया नहीं सूअर को !

फतहचन्द—चपरासी बहुत शरीफ है। उसने साफ कह दिया—हुजूर मुझसे यह काम न होगा। मैंने भले आदमियों की इज़्ज़त उतारने के लिए नौकरी नहीं की थी ! वह उसी वक्त सलाम करके चला गया।

शारदा—यह बहादुरी है ! तुमने उस साहब को क्यों नहीं फटकारा ?

फतह०—फटकारा क्यों नहीं—मैंने भी खूब सुनाई। वह छड़ी लेकर दौड़ा—मैंने भी जूता सँभाला। उसने मुझे दो तीन छड़ियाँ जमाईं—मैंने भी कई जूते लगाये।

शारदा ने खुश होकर कहा—सच ? इतना सा मुँह हो गया होगा उसका !

फतह०—चेहरे पर झाड़ू-सी फिरी हुई थी।

शारदा—बड़ा अच्छा किया तुमने। और मारना चाहिये था। मैं होती तो बिना जान लिये न छोड़ती।

फतह०—मार तो आया हूँ लेकिन अब खैरियत नहीं है। देखो क्या नतीजा होता है ? नौकरी तो जायगी ही। शायद सज़ा भी काटनी पड़े।

शारदा—सज़ा क्यों काटनी पड़ेगी। क्या कोई इन्साफ करने वाला नहीं है ? उसने गालियाँ क्यों दीं, क्यों छड़ी जमाई ?

फतह०—उसके सामने मेरी कौन सुनेगा ? अदालत भी उसी की तरफ हो जायगी।

शारदा—हो जायगी, हो जाय। मगर देख लेना, अब किसी साहब की यह हिम्मत न होगी कि किसी बाबू को गालियाँ दे बैठे। तुम्हें चाहिये था कि ज्यों ही उसके मुँह से गाली निकली, लपककर एक जूता रसीद करते।

फतह०—तो फिर इस वक्त ज़िन्दा लौट भी न सकता। जरूर मुझे गोली मार देता।

शारदा—देखी जाती!

फतहचन्द ने मुसकरा कर कहा—फिर तुम लोग कहाँ जातीं?

शारदा—जहाँ ईश्वर की मरजी होती। आदमी के लिए सब से बड़ी चीज इज़्ज़त है। इज़्ज़त गँवाकर बालबच्चों की परवरिश नहीं की जाती। तुम उस शैतान को मार कर आये होते तो मैं गरूर में फूली नहीं समाती। मार खाकर आते तो शायद मैं तुम्हारी सूरत से घृणा करती। यों ज़बान से चाहे कुछ न कहती, मगर दिल से तुम्हारी इज़्ज़त जाती रहती। अब जो कुछ सिर पर आयेगी, खुशी से झेल लूँगी।......कहाँ जाते हो? सुनो, कहाँ जाते हो?

फतहचन्द दीवाने होकर जोश में घर से निकल पड़े। शारदा पुकारती रह गई। वह फिर साहब के बँगले की तरफ जा रहे थे! डर से सहमे हुए नहीं, बल्कि ग़रूर से गर्दन उठाये हुए। पक्का इरादा उनके चेहरे से झलक रहा था। उनके पैरों में वह बेकली न थी, उनकी कायापलट सी हो गई। वह कमजोर बदन, पीला मुखड़ा, दुबले बदनवाला, दफ्तर के बाबू की जगह अब मर्दाना चेहरा, हिम्मत में भरा हुआ, मजबूत गठा हुआ जवान था। उन्होंने पहले एक दोस्त के घर जाकर डंडा लिया और अकड़ते हुए साहब

के बँगले पर पहुँचे।"

यहाँ घटना की प्रत्येक बात पात्र से इस तरह सम्बन्ध रखती है कि दोनों का अभिन्न अस्तित्व है और यही कहानी की सफलता का लक्षण है।

कथानक की दृष्टि से कहानी लिखने के तीन ढंग हैं। प्रथम तो साधारण ढंग है, जिसके अनुसार लेखक इतिहासकार की भाँति कथा कहता जाता है। कहानी के सारे पात्रों को सामने लाकर खड़ा कर देता है। उनसे कथोपकथन कराता है और अवसर आने पर स्वयं कुछ कह देता है। वह पात्रों तथा घटनाओं की श्रृंखला तैयार कर उन्हें खिलाता है और स्वयं कथानक के परदे की ओट में सारी बातें सुनाता है। दूसरा ढंग वह है जिसके अनुसार लेखक प्रथम पुरुष में लिखता है और अपने को कहानी के किसी पात्र से सम्बद्ध कर लेता है। वह स्वयं 'मैं' के रूप में कहानी में खड़ा होता है और जीवन-चरित्र की भाँति सब कुछ कहता है। तीसरा ढंग वह है, जिसके अनुसार लेखक सारी घटनाएँ पत्रों अथवा डायरी के पृष्ठों के द्वारा प्रकाशित करता है। उसमें कहानी की सारी बातें पत्रों में या अवतरणों के रूप में पाई जाती हैं और वे उन्हीं पत्रों में आरम्भ से अन्त तक जुड़ी रहती हैं।

कहानी के ये तीनों ढंग अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। कहानी लिखने का साधारण ढंग लेखन-शक्ति को स्वच्छन्दता दे देता है। उसमें विचार बहुत विशद रूप से प्रकाशित किये जा सकते हैं और घटनाओं का वर्णन बड़े स्वतंत्र रूप से हो

सकता है । कहानियों में जीवनी और पत्रों का ढंग रोचकता बढ़ाकर पाठकों की सहानुभूति अपनी ओर कर लेता है । ऐसी रचना पाठकों के हृदय को अपने-आप आकर पकड़ लेती है और पाठकों का मन बड़ी तेज़ी के साथ पात्रों और घटनाओं की ओर आकर्षित हो जाता है । किन्तु अंतिम दोनों प्रकार के ढंगों में कुछ दोष अवश्य है । जीवनी के समान कहानियों में यह दोष आ सकता है कि सारी कहानी का ज्ञान एक मनुष्य को, जो 'मैं' रूप में लिखता है, न हो सके । एक पात्र, जिसके साथ कहानी-लेखक अपने को मिला देता है, कहानी के सभी तत्त्वों और अंगों पर समान रूप से प्रकाश डालने में असमर्थ हो जाता है । पत्र रूप में कहानियों का यह दोष हो सकता है कि वे घटनाओं के रूप में बहुत शिथिलता डाल देती हैं । कथानक जिस वेग से बढ़ना चाहता है उस वेग से वह इसलिए नहीं बढ़ने पाता क्योंकि उसे पूरी स्वतंत्रता ही नहीं मिलती । जिस तरह तूफान की लहर ज्वार के उतार में दब जाती है, उसी प्रकार घटनाओं का वेग पत्र रूप में बढ़ने नहीं पाता । पत्र में तो जैसे कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को लिख रहा है, यही पाया जा सकता है । वास्तविक घटनाओं का उतार-चढ़ाव आँखों के आगे नहीं आता, किन्तु पत्र-लेखक की लेखनी की नोक से टकराकर गिर पड़ता है । इस ढंग की यदि कोई सफल रचना कही जा सकती है तो वह उग्र की 'चन्द हसीनों के खुतूत' नामक रचना ही है । तीनों कहानियों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) साधारण रूप

"साँझ का समय था। रूपवती चारपाई पर बैठी सब्ज़ी कतर रही थी कि नौकर ने डाक लाकर मेज़ पर रख दी। इनमें से एक पत्र के ऊपर हस्ताक्षर किसी स्त्री के-से थे। रूपवती को कुछ सन्देह हुआ। उसने सब्ज़ी छोड़कर पत्र खोला, सन्देह निश्चय के रूप में बदल गया। श्यामलाल का हृदय डोल चुका था, यह उसका प्रबल प्रमाण था।"

सुदर्शन (प्रेम का पापी)

(२) जीवनी का-सा रूप—

"मैं चन्द्रमा की बढ़ती हुई कमनीय कान्ति को देखने लगा। मन ही मन कहने लगा—ब्रह्मदेव की सृष्टि सौन्दर्यशाला में इन्द्र का सिंहासन कितना ऊँचा है! कवि के अलौकिक जगत् में चन्द्रदेव शृंगार रस के साथ सदा ही प्रेम-कानन में विहार करते हैं। माधुर्य और लावण्य का कैसा विचित्र सम्मिश्रण है! सौन्दर्य की विमल जाह्नवी में कलंक मानो अपनी आत्म-शुद्धि के लिए स्नान कर रहा है। मैं आप ही आप गुनगुनाने लगा—

'चंद! तोरी छवि पै बलि-बलि जाऊँ'

—हृदयेश (मौनव्रत)

(३) पत्र-रूप

"मिनर्वा लाज, जेहलम
२ जून, १९०३

माई डियर डालचन्द,

कब तक लौटोगे। मेरा जी तो अभी से घबराने लगा। जब तक

तुम यहाँ थे तब तक मैं तुम्हें न समझ सका था। परन्तु अब पता लगा कि तुम्हारे और हरदयाल के बिना जीवन नीरस हो गया है; जैसे नमक-मिर्च के बिना भाजी बेस्वाद हो जाती है। अब न सवेरे घूमने का आनन्द आता है, न साँझ को बोटिंग का। सारा दिन चित्त उदास रहता है; जैसे कोई कीमती वस्तु गुम हो गई हो। पता नहीं, यह लंबा समय किस तरह बीतेगा। मेरी मानो तो जल्द वापस आ जाओ, फिर कभी अवकाश के समय चलेंगे। अब इस समय अकेले में तुम्हें कराची की सैर का क्या आनन्द आता होगा !

... ...

मैं चाहता हूँ कि तुम पत्र देखते ही जेहलम पहुँच जाओ। क्या समुद्र की सैर मेरी बातचीत से अधिक सुख देने वाली है ?

तुम्हारा शुभचिन्तक--

किशोरचन्द"

(सुदर्शन), २१ अगस्त १६०३

प्रारम्भ कहानी का आदि भाग है। उसी के कुशल लेखन पर कहानी की सफलता निर्भर है। जिस प्रकार किसी सेनापति का प्रारम्भिक सैन्य-संचालन ही विजय का कारण बनता है उसी प्रकार कुशल आरम्भ भी कहानी की सफलता का द्योतक है। प्रारम्भ ही मानो कहानी का दरवाजा है जिससे होकर पाठक कहानी के संघर्षमय क्षेत्र में पदार्पण करता है। यदि दरवाजा टूटा-फूटा या विकृत हुआ तो पाठक उसमें प्रवेश करने की इच्छा ही नहीं करेगा। इसीलिए कहानी-लेखक का यह प्रथम

कर्तव्य है कि वह प्रारम्भ को अधिक से अधिक सुन्दर लिखे जिससे पढ़ने वालों की संख्या अमावस के तारों की भाँति अगणित हो जावे।

एक अंग्रेज़ी लेखक ने इस प्रारम्भ की परिभाषा कितनी सुन्दर दी है!

"कहानी का प्रारम्भिक वाक्य-समूह पाठकों के लिए ग्रन्थकार का परिचय-पत्र है।"※

वास्तव में बात है भी ऐसी ही। क्योंकि इसी वाक्य-समूह के द्वारा कहानी-लेखक पाठकों को कहानी का परिचय कराता है। अतः जो प्रारंभ इतना महत्त्वपूर्ण है, उसके लिए कहानी-लेखक को अधिक से अधिक परिश्रम करना चाहिए। यदि प्रारम्भ उचित रीति से लिखा गया तो पूरी कहानी अच्छी न रहने पर भी साद्यन्त पढ़ी जा सकती है क्योंकि पाठक एक बार कहानी की परिधि में आ चुका है। और यदि प्रारम्भ उचित रीति से नहीं लिखा गया तो सारी कहानी अच्छी रहने पर भी न पढ़ी जावेगी क्योंकि पाठक उसके नीरस और कुरुचिपूर्ण रूप को एक बार उपेक्षा की दृष्टि से देख चुके हैं।

प्रारम्भिक भाग लिखते समय कहानी-लेखक को कुछ बातों को ध्यान में रखना चाहिए। प्रथम बात जो प्रारम्भ में होनी

※The first few lines of a story have been described as the author's letter of introduction to the reader.

चाहिए, वह है आकर्षण। प्रारम्भिक भाग ऐसा लिखा जाना चाहिए कि उसके पढ़ते ही पाठक मंत्रमुग्ध की भाँति कहानी का रास्ता पकड़ ले और जब तक वह रास्ता समाप्त न हो उत्सुकता और आकांक्षा से बढ़ता ही जावे। जब तक कहानी समाप्त न हो, उसे संतोष ही न होना चाहिए। आकर्षण भी इतनी उच्च कोटि का हो कि वह पाठक की सारी मनोवृत्तियाँ अपने में अंतर्हित कर ले। गुलाब का फूल है, हमारी आँखें क्यों उस पर जाकर ठहर जाती हैं ? कोकिल का कूजन है, हमारे कान अन्य शब्दों की ओर से अपनी शक्तियाँ हटाकर उस कूजन की ओर क्यों आकृष्ट हो जाते हैं ? इसलिए कि दोनों में आकर्षण शक्ति है और वह भी इतनी उच्चकोटि की कि दोनों इन्द्रियाँ अन्य बातों की ओर से अपनी प्रवृत्तियों को हटाकर उन्हीं आकर्षक वस्तुओं में जाकर सम्बद्ध हो जाती हैं। ऐसी ही आकर्षण शक्ति कहानी के प्रारम्भिक भाग में हो। प्रारम्भ में ही लेखक ऐसी भावनाओं को छू दे कि पाठक तड़प उठे, उसके हृदय का तार झंकृत हो जाय और वह व्याकुल होकर कहानी के पीछे इस प्रकार दौड़ पड़े जिस प्रकार किसी तितली के पीछे बालक।

दूसरी बात यह होनी चाहिए कि प्रारम्भिक भाग का कहानी से पूर्ण सामंजस्य हो। यह न हो कि कहानी का प्रारम्भ कहानी से अलग झूलता हुआ नज़र आवे। यह प्रायः देखा जाता है कि कहानी-लेखक पाठक की कुतूहलता उत्तेजित करने के लिए अपने प्रारम्भिक भाग को किसी दूसरे साँचे में डालकर कहानी के क्षेत्र से बहुत दूर जा गिरता है। फिर कहानी के

प्रारम्भ और परवर्ती भाग में कोई तारतम्य ही नहीं रहता। प्रारम्भ एक प्रकार का और कहानी का विकास किसी दूसरे प्रकार का हो जाता है। कहानी गणेश के शरीर के समान हो जाती है। मनुष्य के शरीर में हाथी का सिर जोड़ दिया जाता है।

तीसरी बात यह होनी चाहिए कि प्रारम्भ में कहानी का उद्देश्य सन्निहित हो। प्रारम्भ का विस्तार ही इस प्रकार हो कि उससे कहानी का तत्त्व स्पष्ट रूप से प्रकट हो जावे। उद्देश्य के दृष्टिकोण से प्रारम्भ ही मानो एक कुंजी है जिससे हम कहानी का महल खोलने में कृतकार्य हो सकते हैं। जिस प्रकार हम ऐंठे हुए सींगों को देखकर कह सकते हैं कि यह जानवर हरिण है, उसी प्रकार प्रारम्भ देखकर हममें यह कहने की क्षमता होनी चाहिए कि कहानी किस विषय की ओर अग्रसर हो रही है। इस परिस्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि हमें कहानी का परिणाम ज्ञात हो जाय अथवा घटनाओं के क्रम की रूप-रेखा विदित हो जाय, हमें केवल यही ज्ञात होना चाहिए कि कहानी मानव जीवन के किस क्षेत्र को स्पर्श कर रही है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीन बातों का ध्यान प्रारम्भ लिखते समय कहानी-लेखक को रखना चाहिए। कहानी का यह प्रारम्भिक स्वरूप अनेक रूपों में लिखा जा सकता है। इसका सब से सरल उदाहरण साधारण वर्णन में है।

यह ढंग बहुत पुराना है। लेखक किसी इतिहासकार या निबन्ध-लेखक की भाँति कुछ बातें जो कहानी से सम्बन्ध रखती हैं कह कर अपनी कहानी का रूप खड़ा करता है। वह हृदय की

भावनाओं को छूता है उसी प्रकार जैसे कोई महात्मा अपने सौम्य शब्दों में भावों को प्रकाशित कर हमारे हृदय को जाग्रत कर देता है । यह प्रारम्भ अधिक रोचक नहीं होता और न अधिक आकर्षक ही । कुशल कहानी-लेखकों का ही यह कार्य है कि वे इस प्रकार के प्रारम्भ से पाठकों को अपने वश में कर लें। नये लेखकों को तो ऐसी शैली से दूर ही रहना चाहिए। इस प्रकार की शैली कहानी-लेखक तभी अपनावे जब वह पाठकों के हृदय में अपना स्थान बना चुका हो और उसे यह विश्वास हो चुका हो कि मेरी भली-बुरी कहानियाँ भी पाठक बिना पढ़े न छोड़ेंगे।

"हमारे छोटे से जीवन में भी कितने ही व्यापार बटे हैं कितने ही हर्ष शोक के समय आये हैं, पर उस दिन की घटना, यद्यपि उसे आज पूरे बीस वर्ष गुजर गये, जैसी स्पष्ट याद है वैसी और कोई बात याद नहीं। जब हमारी उम्र चार साल की थी, तब की भी हमें एक घटना याद है। उस समय ऊपर चढ़ते समय जीने से हम लुढ़क पड़े थे, चोट भी लगी थी। वह बात भी हमें आज भी जैसी साफ याद है एंट्रेंस की परीक्षा में इतिहास के पर्चे में क्या पूछा गया, इस समय बिलकुल याद नहीं, मस्तिष्क-विद्या-विशारद ही इन गुत्थियों को खोल सकते हैं।"

ज्वालादत्त शर्मा

ऐसे ढंग में एक बात और ध्यान में रखनी उचित है । इन अवतरणों में प्रायः किसी सत्य का निरूपण किया जाता है अथवा कुछ उपदेश दिया जाता है । कभी-कभी धर्म या समाज

के कुछ सिद्धान्तों की विवेचना भी की जाती है। ऐसी स्थिति में यह ध्यान रखना चाहिए कि वे बहुत नीरस न हो जावें और और उनका स्वरूप इतना भद्दा न हो जावे कि वे अस्थायी जान पड़ें और असामयिक हो जावें। कहानी यदि जीवन का चित्रण है तो उसे सदैव जीवित रहना चाहिए। जो मनुष्य पहले थे वे ही अब हैं और सदैव रहेंगे। परिस्थिति भर में अन्तर होता जावेगा पर मनुष्य का अस्तित्व और उसका व्यक्तित्व एक सा रहेगा। कहानी-लेखकों को इसी मनुष्यत्व की समीक्षा करनी चाहिए। अनन्त सत्य के समीक्षक ही कहानी-लेखकों की उपाधि रहनी चाहिए। तभी वे मानव जीवन का अमर अस्तित्व रखने में समर्थ हो सकेंगे और ऐसे चित्र चित्रित कर सकेंगे जो अनन्त काल तक सजीव रहेंगे।

प्रारम्भ के बाद कहानी में विकास की स्थिति आती है। जब वातावरण तैयार हो जाता है, अथवा पात्रों का चित्रण तथा घटनाओं की अवतारणा हो जाती है, उस समय कहानी को आगे बढ़ाने के लिए किसी कार्य-व्यापार की सृष्टि की जाती है जिससे पात्र तथा घटना-समूह परस्पर उलझने लगता है। यहीं से कहानी में विकास की दशा आरम्भ होती है। यद्यपि हम किसी मशीन के भाग के समान विकास को प्रारम्भ से अलग नहीं कर सकते तथापि दोनों का अस्तित्व हम स्पष्ट देख सकते हैं।

जिस प्रकार कहानी की विषय-भिन्नता के कारण प्रारम्भ भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता है, उसी प्रकार कहानी-भेद से

विकास-विस्तार में भी भिन्नता आती है। कुछ कहानियाँ इस प्रकार की हैं जिनमें विकास की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यदि पड़ती भी है तो बहुत कम। ऐसी कहानियाँ वे हैं जिनमें लेखक प्रारम्भ से ही कार्य-व्यापार में डूब जाता है। कुछ कहानियाँ इस प्रकार की होती हैं जिनमें बिना विकास के कहानी की कुतूहलवर्धक भावनाएँ उत्तेजित ही नहीं हो सकतीं। ऐसी कहानियाँ प्रायः वे हुआ करती हैं जो वातावरण के साथ रहती हैं अथवा जिनमें पात्र-परिचय की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि किस कहानी में कितना 'विकास' होगा (क्योंकि यह तो कहानी-लेखक की इच्छा पर निर्भर है) तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है कि विकास कहानी में उतनी मात्रा में अवश्य होगा जितनी में पात्र जीवन की शक्तियाँ पा जायँ। जब प्रारम्भ में लेखक ने पात्रों को खड़ा कर दिया तब उनके भावी कार्यक्रम का निर्धारण विकास के द्वारा ही होगा।

प्रारम्भ तो एक कंकाल की भाँति रहता है। इतनी घटनाएँ—इतने पात्र—ऐसा वातावरण—इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। उस कंकाल को सजीव मांस से अथवा मखमल के समान कोमल त्वचा से सुसज्जित करने में विकास का ही विशेष भाग रहता है। ऐसे विकास का निर्वाह कितने सुन्दर रूप से होना चाहिए यह कहने को आवश्यकता नहीं। कई लेखक विकास का विस्तार आवश्यकता से अधिक कर देते हैं। उस कंकाल को अधिक मांसल अथवा स्थूल बना देते हैं। वे सुन्दरता (?)

लाने के लिए विकास के रास्ते पर लेखनी दौड़ाते चले ही जाते हैं। फिर उन्हें यह ध्यान नहीं रह जाता कि कहानी का कलेवर बेढंगा हो रहा है। उत्कृष्ट कहानी-लेखक प्रेमचन्द की 'आत्माराम' शीर्षक एक कहानी है। उसमें भी यह दोष आ गया है। उस कहानी का विकास महादेव सुनार के जीवन की परिस्थितियों का चित्र खींचने में ही समाप्त हुआ है। वे चित्र न तो कुतूहल-वर्धक घटनाओं की सृष्टि करते हैं और न चरम सीमा की। कहानी का अन्त एक निबन्ध के समान हो गया है।

कहानी के विकास का सुन्दर उदाहरण श्री चतुरसेन की 'दुखवा मैं कासों कहों मोरी सजनी' शीर्षक कहानी में है। प्रवेश के बाद विकास कितनी सुन्दरता से सम्बद्ध है।

(प्रवेश) "मोती महल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौंदर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फीरोजी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुथी हुई उस फीरोजी रंग की ओढ़नी पर कसी हुई कमख़ाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूल रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। संगमरमर के समान पैरों में जरी के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।"

(विकास) "बादशाह दो दिन से शिकार को गये थे। आज इतनी रात हो गई, अभी तक नहीं आए। सलीमा चाँदनी में दूर तक आँखें बिछाये सवारों की गर्द देखती रही। आखिर उससे स्थिर

न रहा गया। वह खिड़की से उठ कर अनमनी-सी होकर मसनद पर आ बैठी। उम्र और चिन्ता की गर्मी जब उससे सहन न हुई तब उसने अपनी चिकन की ओढ़नी भी उतार फेंकी और आप ही आप झुँझलाकर बोली—"कुछ भो अच्छा नहीं लगता। अब क्या करूँ?" उसके बाद उसने पास रखी बीन उठा ली। दो चार उँगली चलाईं, मगर स्वर न मिला। उसने भुनभुना कर कहा—"मर्दों की तरह यह भी मेरे बस में नहीं है।" सलीमा ने उकता कर उसे रख कर दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता आ हाज़िर हुई।

बाँदी अत्यन्त सुन्दरी और कमसिन थी। उसके सौन्दर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों में वैराग्य की स्याही थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा—"साकी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"हुजूर जिसमें खुश हों।"

सलीमा ने कहा—"पर तू किसमें खुश है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर में कहा—"सरकार, बाँदियों की खुशी ही क्या?"

क्षण भर सलीमा ने बाँदी के मुख की तरफ देखा—वैसा ही विषाद, निराशा और व्याकुलता का मिश्रण हो रहा था।

सलीमा ने कहा—"मैं क्या तुझे बाँदी की नज़र से देखती हूँ?"

"नहीं, हुजूर की लौंडी पर खास मेहरबानी है।"

"तब तू इतनी उदास, झिझकी हुई और एकांत में क्यों रहती है? जब से तू नौकर हुई है, ऐसी ही देखती हूँ। अपनी तकलीफ मुझ से तो कह प्यारी साकी!"

इतना कहकर सलीमा ने उसके पास खिसक कर उसका हाथ पकड़ लिया।

बाँदी काँप गई, पर बोली नहीं।

सलीमा ने कहा—"कसमिया! तू अपना दर्द मुझ से कह, तू इतनी उदास क्यों रहती है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर में कहा—"हुजूर क्यों इतनी उदास रहती हैं?"

सलीमा ने कहा—"इधर जहाँपनाह कुछ कम आने लगे हैं। इसीसे तबीयत जरा उदास रहती है।"

बाँदी—"सरकार, प्यारी चीज़ न मिलने से इन्सान को उदासी आ ही जाती है। अमीर ग़रीब, सभी का दिल तो दिल ही है।"

सलीमा हँसी। उसने कहा—"समझी, तब तू किसी को चाहती है? मुझे उसका नाम बता, मैं उसके साथ तेरी शादी करा दूँगी।"

साक़ी का सिर घूम गया। एकाएक उसने बेगम की आँखों से आँख मिलाकर कहा—"मैं आपको चाहती हूँ।"

सलीमा हँसते-हँसते लोट गई। उस मदमाती हँसी के वेग में उसने बाँदी का कंपन नहीं देखा। बाँदी ने बंसी लेकर कहा—"क्या सुनाऊँ?"

बेगम ने कहा—"ठहर, कमरा बहुत गर्म मालूम देता है। इसके तमाम दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल दे। चिरागों को बुझा दे, चटखती चाँदनी का लुत्फ उठाने दे, और वे फूल-मालाएँ मेरे पास रख दे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली—"सुन, पहले एक ग्लास शरबत

दे। बहुत प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के ग्लास में खुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा—"उफ्! यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"दिया तो है सरकार।"

"अच्छा, इसमें थोड़ा सा इस्तंबोल और मिला।"

साकी ग्लास लेकर दूसरे कमरे में चली गई। इस्तंबोल मिलाया, और भी एक चीज़ मिलाई। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही साँस में उसे पीकर बेगम ने कहा—"अच्छा, अब सुना। तू ने कहा था मुझे प्यार करती है; सुना कोई प्यार का ही गाना सुना।"

इतना कह और ग्लास को गलीचे पर लुढ़का कर मदमाती सलीमा कोमल मखमली मसनद पर खुद भी लुढ़क गई और रस-भरे नेत्रों से साकी की ओर देखने लगी। साकी ने बंसी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया—

दुखवा मैं कासों कहों मोरी सजनी!

बहुत देर तक साकी की वंशी और कंठ-ध्वनि कमरे में घूम-घूम कर रोती रही।

धीरे धीरे साकी खुद भी रोने लगी। साकी मदिरा और यौवन के नशे में चूर होकर झूमने लगी।

गीत खतम करके साकी ने देखा सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख हो गये हैं और तांबूल-रागरंजित

होंठ रह रह कर फड़क रहे हैं । साँस की सुगंध से कमरा महँक रहा है। जैसे मंद पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है उसी प्रकार सलीमा का वक्षःस्थल धीरे धीरे काँप रहा है । प्रस्वेद की बूँदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में, मोतियों की तरह चमक रही हैं।"

इस कहानी में यह अंश 'विकास' के अन्तर्गत आता है। इसमें कुतूहल-वर्धक घटना के लिए इतना अच्छा सामान तैयार किया गया है कि कहानी एक मिनट में अपना पहलू बदल लेती है। पात्रों में जीवन का संचार हो उठता है । वे अपने पैरों पर खड़े होकर मनमाना घूम फिर सकते हैं । उनमें पारस्परिक संघर्ष पैदा होने का अवसर आ जाता है । सलीमा की मस्तीभरी तबीयत, उसके यौवन का उभार, उम्र और चिन्ता की गर्मी से कहानी का संचार हो जाता है। सलीमा का व्यक्तित्व शक्ति और भाव सम्पन्न होकर हमारी दृष्टि के सामने झूलने लगता है । उसी भाँति बाँदी का उदास दिल भी तड़पता हुआ हमारे नेत्रों के सामने आता है । उसके सौंदर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों में नैराश्य की स्याही है । वही बाँदी (!) बेगम की आँख से आँख मिला कर कहती है—मैं आपको चाहती हूँ ! सलीमा हँसते हँसते लोट जाती है।

कहानी-लेखक को विकास का उतना ही विस्तार करना चाहिए जितना उसके पात्रों अथवा घटनाओं को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक है । और यह कम से कम हो । जैसे ही लेखक को यह ज्ञात हो जावे कि उसके पात्रों में अब इतनी

शक्ति आ गई कि वे परस्पर लड़-भिड़ सकते हैं अथवा घटनाओं के अनुकूल या प्रतिकूल कार्य कर सकते हैं उसी समय उसे अपनी लेखनी विकास की दशा पर से हटा लेनी चाहिए। उस समय उसे यह देख लेना चाहिए कि कहानी के विकास का एक एक शब्द और एक एक वाक्य नितान्त आवश्यक और परिस्थति के अनुकूल है। यदि एक वाक्य भी उस स्थान से निकाल दिया जाय तो कहानी एक टूटी श्रृंखला के समान झूलने लगे। और यदि वाक्य में एक शब्द के बदले उसका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो यथार्थ भाव बिखरे हुए फूल की भाँति धूल में मिल जायँ। फलतः शब्द भी इतने उपयुक्त चुने जावें कि वे भाव विशेष के समर्थ प्रकाशक हों और सुन्दरता लाने के सफल साधक। जिस स्थान पर 'आसक्त' शब्द ठीक बैठता है उसके स्थान पर 'अनुरक्त' शब्द रखना भाव का नाश करना ही है। भाव के सूक्ष्म प्रकाशन में 'आसक्त' और 'अनुरक्त' एक दूसरे से बहुत दूर जा गिरते हैं। यह तो कहानी-लेखक ही ठीक समझ सकेगा कि किस शब्द की कहाँ आवश्यकता है। शब्दों और वाक्यों के सम्बन्ध में लेखक को यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि उसका कहानी के विकास का एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य कहानी को निर्दिष्ट पथ की ओर ले जा रहा है और कहानी के पात्रों में शक्ति का संचार कर रहा है। यदि वाक्यों और शब्दों का निरर्थक समूह कहानी के विकास भाग में रहा तो उससे क्या कहानी को उत्तेजना मिल सकेगी ?

कहानी जिस प्रकार की भी हो उसमें कौतूहल महत्त्वपूर्ण और कठिन भाग है। यह विकास और चरमसीमा पर सेतु के समान सज्जित रहता है। इसी में कथानक का सबसे बड़ा भाग निहित है। कहानी में रोचकता का आविर्भाव भी इसी अंश से होता है। इसमें उलझ कर पाठक का हृदय कहानी को समझने, उसके परिणाम जानने के लिए व्यग्र रहता है। यह अंश कहानी में उसी प्रकार छिपा रहता है जिस प्रकार शरीर में हृदय। जिस प्रकार हमें सदैव हृदय की धड़कन मालूम होती रहती है उसी प्रकार हमें कहानी में इस कौतूहल का स्पन्दन ज्ञात होता रहता है। इस मनोरंजन की सामग्री का प्रस्फुटन कहानी में धीरे-धीरे ही होना चाहिये। अन्यथा वह प्रस्फुटन पाठक के हृदय की भावना को उत्तेजित करने के बदले अपनी विभीषिका से नष्ट कर देगा। यह प्रस्फुटन देर से भी न होना चाहिए अन्यथा वह पाठक की उत्सुकता को आवश्यकता से अधिक खींचकर कहानी को विषण्ण कर देगा। कौतूहल का प्रवाह एक मन्द निर्झर की भाँति होना चाहिए, उससे कहानी की चरम सीमा के अंकुर की रक्षा तो होनी ही चाहिए, साथ साथ कहानी की मनोरंजकता को भी किसी प्रकार का आघात नहीं लगना चाहिए। उससे चरम सीमा का झोंका न तो कम ही हो और न आवश्यकता से अधिक प्रचंड ही।

कौतूहल के लिए जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना चुन लेनी चाहिए। कौन-सी घटना कुतूहलता का वर्धन करेगी यही सोचना कहानी-लेखक के कौशल का परिचायक है। घटना ऐसी

हो जो जीवन के सबसे अधिक आकर्षक भाग को प्रकाश में ला दे। उस घटना का संकेत ही पर्याप्त होना चाहिए। एक-एक घटना के विस्तार पर ५०-५० शब्दों का व्यय करना भी उपेक्षणीय है। ऐसे स्थल पर तो एक शब्द, एक वाक्यांश अथवा एक वाक्य भी व्यर्थ न हो। एक पृष्ठ में हृदय की पचास भावनाएँ बिखर जायँ जैसे समुद्र के अन्तस्तल में उज्ज्वल और अपरिमित रत्न-राशि।

इस कौतूहल की सृष्टि किस प्रकार की होनी चाहिए! घटना-प्रधान कहानियों में मुक्त वर्णन प्रवाह के द्वारा अगणित भ्रम, भीषणता, विपत्ति, उत्तेजनाजनक परिस्थिति की सृष्टि इस प्रकार हो कि पात्रगण कुछ देर के लिए किंकर्तव्यविमूढ हो जायँ अथवा अपनी नियमित जीवन-चर्या के विरुद्ध कार्य करने लगें। वे स्वयं घबड़ा कर अपनी रक्षा का उपाय सोचने लगें और ऐसी दशा में ऐसे कार्य कर बैठें जिनसे वे घटनाओं में और भी उलझ जायँ। जिस प्रकार मक्खी मकड़ी के जाल में फँस कर निकलने का परिश्रम करते समय और भी फँस जाती है। अथवा वधिक के जाल में पड़ा हुआ हरिण छूटने के प्रयास में अपने को और भी फँसा लेता है उसी प्रकार विपत्ति अथवा किसी भीषण परिस्थिति में पड़ा हुआ पात्र अपनी रक्षा का उपाय सोचते सोचते अपने को उसी में और भी आबद्ध कर ले। ऐसी स्थिति में उसके उस घटना से मुक्त होने का और कोई साधन दृष्टि नहीं आता और इस प्रकार चरमसीमा के लिए मार्ग तैयार हो जाता है। यदि कुतूहलता का आवेग बड़ी तीव्रता

के साथ बढ़ने लगे तो कहानी-लेखक को उसे मन्द करने का प्रयत्न करना चाहिए। मन्द करने के लिए उसे वार्तालाप, वर्णन, तथा किसी अन्य घटना का सहारा ले लेना चाहिए। पर यह ध्यान रहे कि कुतूहलता का वेग आवश्यकता से कम न हो जाय।

चरित्र-प्रधान कहानियों में कुतूहलता की सृष्टि, तो सरलता से हो सकती है पर उसका वेग बहुत प्रचंड हो सकता है। घटनाओं के प्रभाव से या पात्र के दुर्भाग्य से पात्र या पात्रों के स्वभाव में अन्तर आ जाय, उनके हृदयों में ईर्ष्या, घृणा, प्रेम, प्रतिहिंसा आदि के तीव्र भाव इस प्रकार जागृत हो जायँ कि वे असंभव कार्य करने के लिए भी व्यग्र हो उठें। जिस बात का विचार पाठक स्वप्न में भी न करे वह बात पात्र करने के लिए सन्नद्ध हो जाय! पात्र की इस उत्तेजना से कार्य ऐसा रूप रख ले कि पाठक के हृदय में कुतूहलता की, विचित्रता की सृष्टि हो जाय और उसे यह भय लगने लगे—

'कहीं ठेकेदार यह कार्य न कर बैठे!'

'कहीं मोहिनी मर न जाय!'

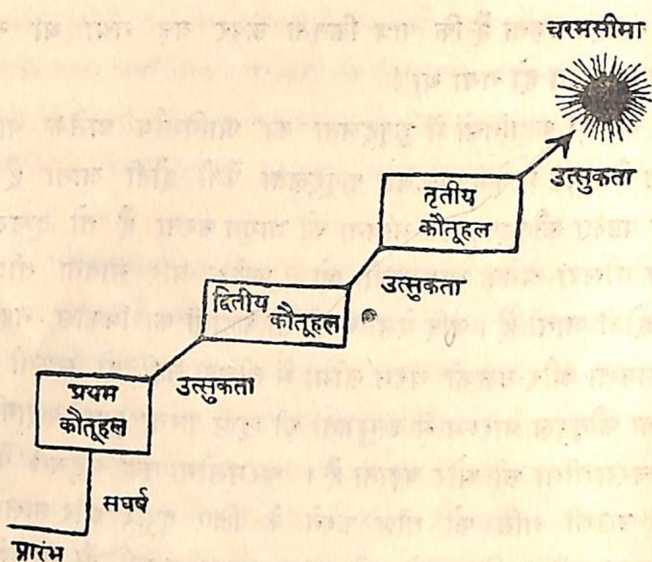
'कहीं पुष्पा अपने हृदय में कटार न भोंक ले!'

'कहीं मैकू अपने खेत में आग न लगा दे!' आदि।

ऐसी परिस्थिति में चरमसीमा अपना तीव्र रूप रख कर आती है। हृदय उत्सुकता से धड़कने लगता है कि अब क्या होता है! एक तूफान की भाँति गर्जन करती हुई चरमसीमा आती है और एक मिनट में पाठकों के सिर पर बरस पड़ती है।

तब मालूम पड़ता है कि पात्र कितना ऊपर बढ़ गया था या कितना पतित हो गया था !

अच्छी कहानियों में कुतूहलता का आविर्भाव अनेक बार होता है। पर प्रत्येक बार वह कुतूहलता पैनी होती जाती है। यदि पहला कौतूहल एक भावना को जागृत करता है तो दूसरा और तीसरा अनेक भावनाओं को। प्रत्येक बार भावना तीव्र भी होती जाती है। यदि ऐसा न हो तो कहानी का विकास नहीं हो सकता और उसकी चरम सीमा में तीव्रता नहीं हो सकती। पहला कौतूहल प्रारम्भ में उत्सुकता की सृष्टि करता हुआ कहानी को चरमसीमा की ओर बढ़ाता है। चरमसीमा तक पहुँचने के पूर्व उसकी गति को तीव्र करने के लिए दूसरे और तीसरे कौतूहल की सृष्टि करने की आवश्यकता पड़ती है जिससे चरमसीमा में आने की स्थिति तक कहानी अनेक प्रकार की भावनाओं के संघर्ष से इतनी भारी और विस्तृत बन जाती है जैसे वर्षा की काली वारिदमाला जिसमें अपरिमित जलकण छिपे रहते हैं। फिर केवल चरमसीमा की विद्युत के चमकने और प्रचंड शब्द करने ही की देर रह जाती है। जैसे ही इन उत्सुकता से परिपूर्ण भावनाओं की संघर्षपूर्ण स्थिति में चरमसीमा का विद्युत-संचार हुआ वैसे ही सारी कहानी का सौन्दर्य एक क्षण भर में एक अनुपम आनन्द के आलोक से प्रकाशित हो उठता है। चरमसीमा की ओर जाने वाली कुतूहल-जनक घटनाओं की सृष्टि का रूप इस प्रकार होगा :—



श्री प्रेमचन्द की 'धोखा' शीर्षक कहानी में चार कौतूहल-जनक घटनाओं की अच्छी सृष्टि की गई है। उसका विश्लेषण इस प्रकार है—

(प्रारम्भ) प्रभा जिसका विवाह नौगढ़ के राजकुमार हरिश्चन्द्र के साथ होने वाला था, एक योगी का गाना सुनकर उस पर उन्मत्त हो उठती है और उसी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। यह तो कौतूहल उत्पन्न करने का प्रारम्भ हुआ।

(संघर्ष) "प्रभा राजा हरिश्चन्द्र के नवीन विचारों की चर्चा सुनकर इस सम्बन्ध से बहुत संतुष्ट न थी पर जब से उसने प्रेममय युवा योगी का गाना सुना था, तब से तो वह उसी के ध्यान में डूबी रहती।...योगी की वह मोहनी मूर्ति कभी प्रभा की आँखों से न

उतरती। उसका मधुर राग प्रतिक्षण उसके कानों में गूँजा करता। उसी कुण्ड के किनारे वह सिर झुकाये सारा दिन बैठी रहती। कल्पना में वही हृदयग्राही राग सुनती और वही योगी की मनोहारिणी मूर्ति देखती।......फिर आप ही आप विचार करती यह मेरी क्या दशा है। मुझे यह क्या हो गया है। मैं हिन्दू कन्या हूँ, माता-पिता जिसे सौंप दें, उसकी दासी बनकर रहना मेरा धर्म है।......... आह, यह कलुषित हृदय लेकर मैं किस मुँह से पति के पास जाऊँगी। इन कानों से क्योंकर प्रणय की बातें सुन सकूँगी जो मेरे लिए व्यंग्य से भी अधिक कर्णकटु होंगी! इन पापी नेत्रों से वह प्यारी प्यारी चितवन कैसे देख सकूँगी जो मेरे लिए वज्र से भी अधिक हृदय-भेदी होगी?......प्यारे! तुम मेरे हृदय मंदिर से निकल जाओ। यह स्थान तुम्हारे योग्य नहीं। मेरा वश होता तो तुम्हें हृदय की सेज पर सुलाती। परन्तु मैं धर्म की रस्सियों में बँधी हूँ। इस तरह एक महीना बीत गया। ब्याह के दिन निकट आते जाते थे, प्रभा का कमल सा मुख कुम्हलाया जाता था।"

कहानी में यह संघर्ष का प्रदर्शन है। यहाँ हमारे हृदय में एक भावना वेग से उठ जाती है—अब क्या होगा? प्रभा ने अपना हृदय खो दिया है—वह किस प्रकार अपने पति से मिलेगी? अन्त में वह अपने पति से मिली है। यहाँ से प्रथम कौतूहल प्रारम्भ होता है।

'उनके सामने वह स्वयं हँसती, उसकी आँखें हँसतीं और आँखों का काजल हँसता था। किन्तु आह! जब वह अकेली होती तो उसका चंचल चित्त उड़कर उसी कुण्ड के तट पर जा पहुँचता,

कुण्ड का वह नीला नीला पानी, उस पर तैरते हुए कमल, और मौलसिरी की वृक्षपंक्तियों का सुन्दर दृश्य आँखों के सामने आ जाता। उमा मुसकराती और नज़ाकत से लचकती हुई आ पहुँचती, तब रसीले योगी की मोहनी छवि आँखों में आ बैठती, और सितार के सुललित सुर गूँजने लगते—

............'कर गये थोड़े दिन की प्रीति'

तब वह एक दीर्घ निःश्वास लेकर उठ बैठती और बाहर निकल कर पिंजर में चहकते हुए पक्षियों के कलरव में शान्ति प्राप्त करती।"

(पहला कौतूहल)

उत्सुकता का आधार लिये हुए द्वितीय कौतूहल प्रारम्भ होता है।

'एक दिन राजा हरिश्चन्द्र प्रभा को अपनी चित्र-शाला में ले गये। उसके प्रथम भाग में ऐतिहासिक चित्र थे। सामने ही शूरवीर महाराणा प्रतापसिंह का चित्र नज़र आया।......दूसरे भाग में कर्मयोगी कृष्ण और मर्यादा पुरुषोत्तम राम विराजते थे।......इसके बाद तीसरा भाग आया। यह प्रतिभा-शाली कवियों की सभा थी। सर्वोच्च स्थान पर आदि-कवि वाल्मीकि और महर्षि वेदव्यास सुशोभित थे। दाहिनी ओर शृङ्गार रस के अद्वितीय कवि कालिदास थे। बाँयीं तरफ गंभीर भावों से पूर्ण भवभूति। निकट ही भर्तृहरि अपने सन्तोषाश्रम में बैठे हुए थे।

दक्षिण की दीवार पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के कवियों का सम्मेलन था। सहृदय कवि सूर, तेजस्वी तुलसी, सुकवि केशव और रसिक बिहारी यथाक्रम विराजमान थे। सूरदास से प्रभा का अगाध

प्रेम था। वह समीप जाकर उसके चरणों पर मस्तक रखना ही चाहती थी कि अकस्मात् उन्हीं चरणों के सम्मुख सिर झुकाये उसे एक छोटा-सा चित्र देख पड़ा। प्रभा उसे देख कर चौंक पड़ी। यह वही चित्र था जो उसके हृदय-पट पर लिखा हुआ था। वह खुल कर उसकी तरफ ताक न सकी। दबी हुई आँखों से देखने लगी। राजा हरिश्चन्द्र ने मुसकरा कर पूछा—इस व्यक्ति को तुमने कहीं देखा है ?" (दूसरा कौतूहल)

इस स्थिति पर पाठक अनेक भावनाओं के प्रभाव में बहता है। प्रभा क्या कहेगी ? हरिश्चन्द्र पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? दोनों में प्रेम कैसे रह सकेगा ? प्रभा की लज्जा कैसे बचेगी ? आदि कार्य-व्यापार उत्सुकता के साथ कितनी शीघ्रता से बढ़ता है। इसके बाद तीसरा कौतूहल आता है—

"जिस तरह मृगशावक व्याध के सामने व्याकुल हो इधर-उधर देखता है उसी तरह प्रभा अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से दीवार की ओर ताकने लगी। सोचने लगी, क्या उत्तर दूँ। इसको कहाँ देखा है, उन्होंने यह प्रश्न मुझसे क्यों किया ? कहीं ताड़ तो नहीं गये ? हे नारायण, मेरी पत तुम्हारे हाथ है। क्योंकर इनकार करूँ। मुँह पीला हो गया। सिर झुका क्षीण स्वर से बोली—हाँ, ध्यान आता है कि कहीं देखा है।"

हरिश्चन्द्र ने कहा—कहाँ देखा है ?

प्रभा के सिर में चक्कर सा आने लगा। बोली—शायद एक बार यह गाता हुआ मेरी वाटिका के सामने से जा रहा था। उमा ने बुलाकर इसका गाना सुना था।

हरिश्चन्द्र ने पूछा—कैसा गाना था ?" (तीसरा कौतूहल)

'प्रभा के होश उड़े हुए थे। सोचती थी, राजा के इन सवालों में ज़रूर कोई बात है। देखूँ आज लाज रहती है या नहीं। बोली—उसका गाना ऐसा बुरा न था।

हरिश्चन्द्र ने मुस्करा कर पूछा—क्या गाया था ?

प्रभा ने सोचा इस प्रश्न का उत्तर दे दूँ तो बाकी क्या रहता है। उसे विश्वास हो गया कि आज कुशल नहीं है। वह छत की ओर निरखती हुई बोली—सूरदास का कोई पद था।

हरिश्चन्द्र ने कहा—यह तो नहीं—

"कर गये थोड़े दिन की प्रीति।" (चौथा कौतूहल)

प्रभा की आँखों के सामने अँधेरा छाने के साथ ही पाठकों की आँखों के सामने भी अँधेरा छा जाता है। क्या होगा ? पाठक भावनाओं के झकोरे में चक्कर खाने लगता है। उसे ज्ञात नहीं अब घटना उसे किस ओर ले जायगी। उसकी साँस ज़ोर से चलने लगती है। वह बहुत अशान्त और उत्सुकता का गुलाम बन जाता है। कहानी आगे चरम सीमा की ओर बढ़ती है—

"हरिश्चन्द्र ने पूछा—फिर सुनना चाहो तो उसे बुलवाऊँ। सिर के बल दौड़ा आयेगा।

क्या उनके दर्शन फिर होंगे ? इस आशा से प्रभा का मुखमंडल विकसित हो गया। परन्तु इन कई महीनों की लगातार कोशिश से जिस बात को भुलाने में वह किंचित सफल हो चली थी, उसके फिर नवीन हो जाने का भय हुआ। बोली—इस समय गाना सुनने को मेरा जी नहीं चाहता।

राजा ने कहा—यह मैं न मानूँगा कि तुम और गाना नहीं सुनना चाहती, मैं उसे अभी बुलाये लाता हूँ।

यह कह कर राजा हरिश्चन्द्र तीर की तरह कमरे से बाहर निकल आये। प्रभा उन्हें रोक न सकी। वह बड़ी चिन्ता में डूबी खड़ी थी। हृदय में खुशी और रंज की लहरें बारी-बारी से उठती थीं। मुश्किल से १० मिनट बीते होंगे, कि उसे सितार के मस्ताने सुर के साथ योगी की रसीली तान सुनाई दी—

"कर गये थोड़े दिन की प्रीति।"

वही हृदयग्राही राग था। वही हृदयभेदी प्रभाव, वही मनोहरता और वही सब कुछ जो मन को मोह लेता है। क्षण-एक में योगी की मोहिनी मूर्ति दिखाई दी। वही मस्तानापन, वही मतवाले नेत्र, वही नयनाभिराम देवताओं का सा स्वरूप। मुखमंडल पर मंद-मंद मुस्कान थी। प्रभा ने उसकी तरफ़ सहमी आँखों से देखा। एकाएक उसका हृदय उछल पड़ा। उसकी आँखों के आगे से एक पर्दा हट गया। प्रेम-विह्वल हो, आँखों में प्रेम के आँसू भरे वह अपने पति के चरणारविन्दों पर गिर पड़ी, और गद्गद कंठ से बोली—प्यारे प्रियतम!" (चरमसीमा और घटना का अन्त)

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कहानी में लेखक को कुतूहलजनक घटनाओं की सृष्टि करने में परिश्रम की आवश्यकता पड़े। कार्यव्यापार में ही इधर-उधर कौतूहल अन्तर्हित रह सकता है। कोई घटना विशेष न हो। पर एक बात है, कौतूहल इतना स्पष्ट न होना चाहिए कि पाठक पहले से ही समझ जाय कि आगे चलकर यह घटना इस प्रकार होगी।

हाँ, आगामी घटनाओं के अनुकूल बातें भले ही सोच ले। कौतूहल का फल स्पष्ट न रहने से कहानी की उत्सुकता बनी रहती है। उत्सुकता ही कहानी की पोषिका है उसकी रक्षा करना प्रत्येक कहानी-लेखक का कर्तव्य है।

कौतूहल के अन्त में चरम सीमा की स्थिति है।

किसी कहानी में भावनाओं को उत्तेजित कर उस अवस्था तक पहुँचा देना जहाँ पात्रों अथवा घटनाओं का भाग्य निर्णय किसी 'हाँ' या 'नहीं' पर आश्रित हो जाय और कथानक का सौन्दर्य स्पष्ट नेत्रों के सामने आ जाय—यही चरमसीमा है। इसी चरमसीमा में कहानी का सारभूत तत्त्व सन्निहित रहता है। किस प्रकार की चरमसीमा किस प्रकार की कहानी के लिए उपयुक्त है, यह महत्त्वपूर्ण कार्य कहानी-लेखक की कुशलता पर निर्भर रहता है। यदि प्रेम की घटना में किसी दूसरी भावना का—(जिसका प्रेम या प्रेम के दूसरे रूप घृणा से कोई सम्बन्ध नहीं है)—उत्कर्ष दिखलाकर चरमा सीमा की सृष्टि की जायगी तो कहानी सौन्दर्य की रक्षा न कर सकेगी। पहली बात तो यह होगी कि कहानी में संगठन न रहेगा। उसके अंगों का विकास एक दूसरे पर आश्रित न रहकर उच्छृङ्खल हो जायगा और दूसरी बात यह होगी कि कहानी की मनोरंजकता उसी क्षण नष्ट हो जायगी। इसलिए चरमसीमा के लिए ऐसी घटना चुनी जाय जिसका आदि से अन्त तक कहानी से आवश्यक सम्बन्ध हो। इस चरमसीमा की उत्कृष्टता कहानी-लेखक की प्रतिभा पर आश्रित रहती है। जो लेखक जितना ही अधिक प्रतिभावान

होगा उसकी लेखनी से उतनी ही उत्कृष्ट चरमसीमा का प्रादुर्भाव होगा।

कहानियों में समाप्ति पर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिये। यदि प्रारम्भ में कथानक बहुत अच्छी तरह से बढ़ाया जाय और अन्त में उसे यों ही छोड़ दिया तो कथानक के प्रारम्भिक भाग का सारा सौंदर्य नष्ट हो जायगा। अतएव यह परमावश्यक है कि जिस सावधानी के साथ कहानी का प्रारम्भ किया जाय उसी सावधानी से उसकी समाप्ति भी हो!

प्रेमचन्द जी ने "धोखा" शीर्षक कहानी को कितनी मनोहरता से समाप्त किया है! देखिये--

"प्रभा ने अनुराग से देखकर कहा—योगी बनकर तुमने जो कुछ पा लिया वह राजा रह कर कदापि न पा सकते। अब तुम मेरे पति हो और प्रियतम भी। पर तुमने मुझे बड़ा धोखा दिया और मेरी आत्मा को कलंकित किया। इसका उत्तरदाता कौन होगा?"

सुदर्शन जी की 'न्याय-मंत्री' शीर्षक कहानी की समाप्ति ठीक नहीं हो पाई। देखिए—

"अशोक ने सम्मान-भरी दृष्टि से उनकी तरफ देखकर कहा—आज आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब यह कैसे हो सकता है।

परन्तु श्रीमन्.........

अशोक ने बात काटकर कहा—आपका साहस मैं कभी नहीं भूलूँगा। यह बोझ आप ही उठा सकते हैं। मुझे कोई दूसरा इस पद के योग्य दिखाई नहीं देता।

न्याय-मंत्री निरुत्तर हो गये।"

यहाँ न्याय-मंत्री का निरुत्तर होना कहानी के सारे सौंदर्य पर पानी बहा देता है।

कथानक के सूत्रपात करने की सबसे सरल विधि यह है कि पहले घटना की तीव्रतम दशा सोच ली जाय। ऐसी स्थिति ढूँढ ली जाय जब भावनाओं का वेग ज्वालामुखी के अग्नि-प्रपात की भाँति हो। ऐसी स्थिति पहुँच जाने पर उसके आगे-पीछे घटनाओं की कड़ियाँ ऐसी जोड़ी जायँ जो स्वाभाविक रूप से उसमें जम जायँ। इस प्रकार प्रारम्भ का कथानक माँजकर अन्तिम भाग भी साफ-सुथरा कर दिया जाय। ऐसा होने से कथानक में जीवन की बड़ी शक्ति समावेशित हो सकेगी और कथा का वास्तविक लक्ष्य आसानी से मिल जायगा। पर ऐसी कहानियों में एक बात होना ज़रूरी है। वह यह कि उस तीव्रतम स्थिति—जिसे अंग्रेज़ी में क्लाइमेक्स (Climax) कहते हैं—के बाद समाप्ति उसी क्षण हो जानी चाहिये। यदि कहानी उसी समय समाप्त न होगी तो सारा भाव अन्त में बिखर जायगा और कहानी का उद्देश्य निरर्थक हो जायगा। प्रत्येक भावमयी और प्रभावमयी कहानी के लिए यह आवश्यक है कि वह उसी समय समाप्त हो जाय जब उसकी चरम-सीमा पहुँचे। देखिये—

....

"पं० सर्वदयाल अस्वीकार न कर सके।

ठाकुर हनुमन्तराय जब मोटर में बैठे तो पुलकित नेत्रों में आनन्द का नीर झलकता था, मानो कोई निधि हाथ लग गई हो। उनके साथ एक अँगरेज़ मित्र बैठा था। उसने पूछा—'वेल ठाकुर

साहब, इस डुकान में क्या ठा जो टुम लम्बा डेर खड़ा माँगटा।

"वह चीज़ जो और किसी दुकान पर भी नहीं।"

"कौन-सा ?"

"सच का सौदा।"

परन्तु अँगरेज़ इससे कुछ भी न समझ सका।

मोटर चलने लगी !"

(सुदर्शन—'सच का सौदा')

कथानक का अन्त करने में एक बात और होनी चाहिये। वह यह कि स्वप्न में भी न सोची जाने वाली बात अकस्मात् सामने रख कर कुतूहलता बढ़ा दी जाय। पाठक कुछ और ही सोच रहा है, पर लेखक बड़ी मनोहरता से सामने ऐसी बात रख दे कि आश्चर्य और कौतूहल से पाठक की तबीयत फड़क उठे, जैसे अँधेरे में बिजली का प्रकाश हो जाय। अंग्रेज़ी में ओ हेनरी के अन्तिम कथानक के ढंग इसी प्रकार हैं। वे ऐसे समय प्रकट हो जाते हैं जब कोई उनको सोचता भी नहीं है। अकस्मात् निकलकर पाठक का हृदय आनन्द और कुतूहल-मग्न कर देते हैं। कोनन डायल ने एक छोटी-सी कहानी लिखी है। उसका नाम है—How It Happened [यह कैसा हुआ]। उसमें मोटर टूटने की घटना एक 'मीडियम' द्वारा कहलाई गई है। देखिये—

"Going at fifty miles an hour, my right front wheel struck full on the right hand pillar of my own gate. I heard the crash. I was conscious

of flying through the air and then—and then—!

When I became aware of my own existence once more I was among some brush wood in the shadow of the oaks upon the lodge side of the drive. A man was standing beside me. I imagined at first that it was Perkins, but when I looked again I saw that it was Stanely, a man whom I had known at College some years before, and for whom I had a really genuine affection...

"No pain, of course" ? Said he.

„None" said I.

"There never is," said he.

And then suddenly a weve of amazement passed over me. Stanely ! why, Stanely had surely died of enteric at Bloemfontein in the Bore War ! "Stanely !" I cried, and the words seemed to choke my throat—"Stanely, you are dead."

He looked at me with the same old gentle wistful smile.

"So are you." He answered.

स्टेनली के अन्तिम वाक्य ने कौतूहल और आनन्द का वह प्रकाश रख दिया है जिससे सारा कथानक आलोकित हो गया।

हिन्दी में यह रीति कुछ अंशों तक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानियों में सफलता के साथ देखी जा सकती है। 'बचपन' शीर्षक कहानी में जब हाशिम को क्षमा दे दी जाती है तब बालक गुलशन अपनी अबोध जिज्ञासा से ऐसा सरल प्रश्न करता है जो इतनी गंभीर परिस्थिति के बाद कल्पना से परे सरलता और विनोद का कौतूहल उत्पन्न कर देता है। "बुड्ढे तूने पिस्ते खा लिये थे या नहीं?" उस कहानी का अंतिम अंश इस प्रकार है :—

"इसके पूर्व कई बार हाशिम अपनी आँखों से देख चुका था कि ज़मींदार के हबशी जमादार किस बेरहमी से दण्डित गुलामों पर कोड़े फटकारते हैं। ५-७ कोड़ों की मार से ही आदमी की पीठ का मांस चीथड़े-चीथड़े होकर उड़ने लगता है। और उसके बाद? हाशिम उसके बाद कुछ सोच न सका। केवल दो एक घंटे की समाप्ति पर ही वह स्वयं प्रत्यक्ष कर लेगा कि उसके बाद क्या होता है।

हाशिम सिर झुकाकर यही बातें सोच रहा था कि चञ्चल गुलशन उसके द्वार के सींकचों के पास आकर खड़ा हो गया। हाशिम के चिन्तित और उदास चेहरे को देखकर बालक का ध्यान स्वयं उसकी तरफ आकृष्ट हो गया। आहट सुनकर हाशिम ने जो सिर उठाया तो उसकी नज़र गुलशन पर पड़ी। आज गुलशन को देखकर सबसे पहले उसके दिल में यही भाव आया—वही है यह चपल बालक, जिसकी एक चीख के कारण आज थोड़ी ही देर में बड़ी निर्दयता से मेरे प्राण ले लिये जायँगे।

हाशिम, अभागा और बूढ़ा हाशिम बच्चों की तरह से फुफकार कर रो उठा।

हाशिम को रोता हुआ देखकर शायद बालक का दिल भी मसोस उठा। उसने बड़ी सहानुभूति के स्वर में पूछा—"क्यों, रोते क्यों हो ? क्या भूख लगी है ?

हाशिम ने कोई जवाब नहीं दिया, केवल उनके रोने का वेग और भी अधिक बढ़ गया। गुलशन के जेब में पिस्ते भरे हुए थे। एक मुट्ठी पिस्ते हाशिम के सामने डाल कर बिजली के समान चञ्चल वह बालक वहाँ से भाग गया।

इसके थोड़ी ही देर के बाद यम के दूत के समान भयंकर एक हबशी ने हाशिम की कोठरी का दरवाज़ा खोल कर कर कहा—'चलो, वक्त हो गया।'

गुलशन के फेंके हुए पिस्ते कोठरी के सींकचों के पास अब भी उसी तरह बिखरे हुए पड़े थे।

उन दिनों गुलामों को इस तरह बड़ी-बड़ी सजाएँ देने का काम बड़े समारोह के साथ किया जाता था—जैसे यह भी कोई त्योहार हो। समझा जाता कि इससे अन्य गुलामों के हृदयों पर बड़े उत्तम मनोवैज्ञानिक संस्कार पड़ते हैं। आज भी आफताबखान के संपूर्ण गुलाम कोड़े लगाने की टिकठी को घेरकर कतारों में खड़े किये गये थे। टिकठी से कुछ दूरी पर, गुलामों की कतारों के बीच में, एक ऊँचा चबूतरा था। इस चबूतरे पर कालीन बिछाकर एक शाही ढंग की कुर्सी रक्खी गई थी। इसपर भूमि-पति आफ़ताबखान बड़े रोब के साथ बैठा था।

हाशिम को नंगा करके टिकठी से बाँध दिया गया था। पास ही मिट्टी के एक बड़े बर्तन में तेल से भीगे हुए बेंत रक्खे थे।

एक हट्टा-कट्टा हबशी इन बेतों की जाँच पड़ताल कर रहा था। सहसा ज़मींदार का हुक्म हुआ—"होशियार" !

हबशी जमादार ने कोड़ा सँभाल लिया, और बूढ़ा हाशिम आँखों में आँसू भरकर खुदा की इबादत करने लगा।

ज़मींदार अगली आज्ञा देने ही वाला था कि बालक गुलशन कहीं से भागा हुआ आ पहुँचा। वह सीधा अपने पिता के पास चला आया। बालक की ओर ध्यान बँट जाने के कारण आफ़ताबखान को अगला फ़रमान देने में कुछ विलंब हो गया। कोड़ों का जमादार अभी तक अपना कोड़ा आस्मान में ऊँचा किये खड़ा था।

खुदा से इबादत करते हुए भी हाशिम की दृष्टि इस चंचल बालक पर पड़ ही गई। उस बेचारे की आँखों से दो आँसू, उसके सूखे कपोलों को भिगोते हुए नीचे की ओर खिसक गये। हाशिम के हाथ पीछे की ओर बँधे थे, अतः वह इन्हें पोंछ नहीं सका। ठीक इसी समय बालक गुलशन की नज़र इस बूढ़े गुलाम पर पड़ी। बालक सहसा मचल पड़ा--'इस आदमी को क्यों बाँधा है ? इसे छोड़ दो। ऊँ ! ऊँ !"

परन्तु यह समय लाड़-प्यार का नहीं था। यह समय था सैकड़ों गुलामों के मालिक आफ़ताबखान के रोब की परीक्षा का। ज़मींदार ने बालक की परवाह नहीं की। बाँयें हाथ से गुलशन को पकड़ कर, दायाँ हाथ ऊँचा उठाकर वह कोड़ों की मार शुरू करने का आदेश देने ही वाला था कि बालक और भी अधिक ऊँचे स्वर में मचल उठा--"ऊँ ! ऊँ ! छोड़ दो ! मैं नहीं मानता ! छोड़ दो। ऊँ ! ऊँ ! ऊँ !"

पिता ने अब भी अपने लाड़ले पुत्र की तरफ ध्यान नहीं दिया। उसने अपना दायाँ हाथ उठा ही दिया। अभागे हाशिम की पीठ पर पहला कोड़ा पड़ने ही वाला था कि बालक गुलशन ज़मीन पर लोट लोट कर ऊँचे स्वर में रोने लगा—"ऊँ! ऊँ! ऊँ!"

ज़मीदार का उठा हुआ हाथ स्वयं नीचे झुक गया। उसने कहा—"बड़ा ज़िद्दी लड़का है।" अगले ही क्षण आफ़ताबखान ने गुलशन को अपनी गोदी में उठा लिया। इसके बाद हाशिम की ओर मुखातिब होकर कहा—"तुम्हारे छोटे आक़ा के हुक्म से तुम्हें इस बार माफ़ किया जाता है।"

दोनों हबशी जमादारों ने शीघ्रता से हाशिम को टिकठी से खोल दिया।

बालक गुलशन अपने पिता की गोद से उतर कर भागा हुआ हाशिम के पास पहुँचा। अबोध बालक ने अत्यधिक सरल मुस्कराहट के साथ पूछा—'बुड्ढे! तू ने पिस्ते खा लिये थे या नहीं?'"

स्टीवेन्सन का मत है कि कहानी लिखने की तीन रीतियाँ हैं। पहले आप कथानक लीजिये और उसमें पात्र का स्थान निर्धारित कर दीजिये, या पहले आप पात्र लीजिये और घटनाओं और स्थिति की पात्रों के अनुसार रचना कीजिये; अथवा तृतीयावस्था में वातावरण (atmosphere) लीजिये और उस वातावरण के प्रादुर्भाव के लिए पात्र और घटनाएँ चुन लीजिये।

इससे अधिक अब हमें कथानक के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। अब पात्र और चरित्र-चित्रण की ओर दृष्टिपात कीजिये। जब कोई लेखक अपनी कहानी आरम्भ करता है तो वह कुछ

व्यक्तियों को, जिनसे उसकी कहानी की घटनाओं का सम्बन्ध रहता है, लाता है। ये ही उस कहानी के पात्र रहते हैं। अब हमें यह देखना है कि लेखक उन व्यक्तियों में केवल नाम की छाप लगता है अथवा उनमें जीवन की शक्तियाँ भी भरता है। जो लेखक अपने पात्रों को केवल घटनाओं का खिलौना बनाकर छोड़ देता है, वह अपने पात्रों को अमर नहीं बना सकता। जब उनमें जीवन की शक्तियाँ ही नहीं हैं तो वे मनुष्यों के हृदय में कैसे रह सकते हैं ? वे भार रूप होकर कुछ देर तक घटनाओं के साथ खेलते हैं और फिर अनन्त में तिरोहित हो जाते हैं। किन्तु जो लेखक अपने पात्रों में जीवन की शक्तियाँ भरता है वह उनको पाठकों के हृदय में चिरस्थायी रूप से स्थान देता है। वे पात्र न केवल घटनाओं के जाल में ही खेलते हैं किन्तु पाठकों के जीवन में भी विशेष परिवर्तन कर देते हैं। उनमें ऐसी शक्तियाँ आ जाती हैं कि लेखक स्वयं उनके वश में हो जाता है। थैकरे ने एक बार कहा था—मैं अपने पात्रों को अपने अधिकार में नहीं रख सकता। मैं तो उनके हाथों में हूँ और जहाँ वे चाहते हैं, मुझे ले जाते हैं।

इससे तो यही ज्ञात होता है कि लेखक अपने पात्रों में ऐसी शक्तियाँ भर देता है जिनसे वे मनुष्य की भाँति पाठकों के साथ चलते-फिरते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी के पात्र केवल नाम की चिट चिपकाये हुए ही न रहें, किन्तु वे जीवन की शक्तियों से भी विभूषित रहें।

कहानी के चरित्र-चित्रण में वर्णन-शैली का बड़ा महत्त्व है।

हमें उपन्यास अथवा कहानी में पात्रों का ऐसा ज्वलन्त वर्णन करना पड़ता है जिससे उसका स्वरूप हमारे सामने खड़ा हो जाय। नाटकों में चरित्र-चित्रण पर ज़ोर देने की ज़रूरत इसलिए नहीं है कि वहाँ वेश-भूषा, शरीर आदि के ज़रिये से पात्रों का परिचय स्थूल रूप से हो जाता है। पर उपन्यास में पात्र का वेश, चरित्र अथवा व्यक्तित्व सब कल्पना के सहारे पाठकों को सोचना पड़ता है। ऐसी स्थिति में जब तक चरित्र-चित्रण की शैली ऐसी स्पष्ट न होगी जिससे पात्रों की सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का पता चल जाय तब तक चरित्र-चित्रण सफल नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि उपन्यास के चरित्र-चित्रण में अधिक स्पष्टता की आवश्यकता पड़ती है।

चरित्र-चित्रण में कुशलता प्राप्त करने के लिए लेखक को स्वयं अपने हृदय के भावों को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। मन की भावनाओं का सूक्ष्म विवेचन तथा विश्लेषण करने से मनुष्य-जीवन के विविध भावों का रहस्य प्रकाश में आ जाता है। करुणा, हास्य, वीर एवं शृंगार आदि भावों से सम्बन्ध रखने वाली भावनाएँ प्रायः सभी व्यक्तियों में वर्तमान रहती हैं। अन्तर केवल उनकी न्यूनाधिक मात्रा में है। भिखारी के हृदय में हास्य अथवा शोक के जो भाव वर्तमान हैं वे किसी राजकुमार के हास्य तथा शोक के भावों के ही समान हैं। केवल उनके स्वरूप अथवा प्रकाशन के ढंग में अन्तर है। इसलिए यदि मन की भावनाओं पर दृष्टि डाली जाय तो उनके विषय में हमारा ज्ञान व्यक्तिगत रूप में ही सीमित न होकर दूसरे के

हृदय की समान भावनाओं तक पहुँच जायगा। यदि हमारा शोक अथवा हास्य और लोगों का शोक अथवा हास्य न होगा तो कम से कम उनसे सादृश्य तो अवश्य रखेगा क्योंकि ये भावनाएँ व्यक्तिगत न होकर विश्वव्यापी हैं। "अमीर और गरीब सभी का दिल तो दिल ही है*।" फलतः हम अपने हृदय के मनोभावों को जितना समझेंगे, अपनी कमजोरियों की ओर जितनी दृष्टि डालेंगे अथवा अपने कार्यों एवं आदर्शों को जितनी अच्छी तरह से समझेंगे उतनी ही कुशलता से हम अपने समीप के लोगों के मनोभाव समझने में सफलीभूत हो सकेंगे। अतएव पात्रों की अवतारणा करने के पूर्व कहानी-लेखक को अपना ही व्यक्तित्व समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

इसके अनन्तर कहानी-लेखक को अपने समीप के लोगों के स्वभाव और व्यवहार का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिए। कौन किस प्रकार बोलता है। कौन कैसी बातें करता है। रमेश बोलते समय किस प्रकार अपने हाथों से अपने भाव प्रकट करता है। सूरदास गाते समय किस प्रकार सिर हिलाता है। खोंचावाला मिठाई तौलते समय तराजू की डंडी की ओर किस तरह तिरछी नज़र से देखता है। बैजनाथ की माँ बरतन मलते समय किस प्रकार गाना गाती है। माली फूल तोड़ते हुए मालिन को कैसी खरी खोटी सुनाता जाता है। ये बातें कहानी-लेखक को बड़े ध्यान से देखनी और समझनी चाहिएँ। यह ज्ञान प्राप्त करने से

---

* 'दुखवा मैं कासों कहों मोरी सजनी'

उसके पात्रों के व्यवहार, रूप-रंग और बोलचाल की बहुत सी समस्याएँ हल हो जायँगी।

कहानियों में चरित्र-चित्रण दो प्रकार से होता है। पहला प्रकार वह होता है, जहाँ लेखक स्वयं दूर पर खड़ा होकर पात्र का चित्र खींचता है। उसके भावों, उन्मादों कल्पनाओं आदि का विश्लेषण करता है और उन पर अपना निर्णय भी दे डालता है। उदाहरणस्वरूप कौशिक रचित "करुणा की मूर्त्ति" देखिये।

"सुमित्रा विधवा है। ऐसी विधवा, जिसे अभी अपने वैधव्य का पूरा ज्ञान भी नहीं ! उसकी उम्र अभी केवल १६-१७ वर्ष की है। पति की मृत्यु से उसने केवल यह अनुभव किया कि उसकी कोई ऐसी वस्तु खो गई है जिसे वह अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक प्यार करने लगी थी। क्यों प्यार करने लगी थी ? इसलिए कि वह भी सुमित्रा को हृदय से चाहते थे।......बस अपने वैधव्य के विषय में सुमित्रा को केवल इतना ही ज्ञात था। कोई बड़ी प्यारी वस्तु खो जाने से जिस प्रकार मनुष्य उदास रहता है, उसकी याद आने पर जिस प्रकार ठंडी साँस भरकर रह जाता है और कभी अपनी इस उदासीनता से स्वयं ऊबकर उस वस्तु को भूलने की चेष्टा करता है; और इस भूलने की चेष्टा में सफल हो जाने पर भी जब उस वस्तु का स्मरण कराने वाली किसी अन्य चीज़ को देखता है; तब उसके हृदय में एक धक्का लगता है; एक हूक उठती है; और उसकी उदासीनता पुनः पूर्ववत् हो जाती है। यही दशा सुमित्रा की भी है।"

इस प्रकार के चरित्र-चित्रण में सुमित्रा के बाह्यरूप के सिवाय भावात्मक विचारों का भी बहुत विश्लेषणात्मक स्पष्टी-

करण किया गया है।

दूसरा इससे भी उत्कृष्ट उदाहरण श्री भगवती प्रसादजी वाजपेयी की "अन्ना" शीर्षक कहानी* में देखिये।

"कांग्रेस देखने को अमृतसर जा रहा था। रात को आठ बजे होंगे। इलाहाबाद में गाड़ी खड़ी थी। उसके छूटने में पाँच मिनट की देर थी। एकाएक एक पंजाबी परिवार मेरे डब्बे में आ धमका। इस परिवार में एक अधेड़ पुरुष, एक तरुणी और एक कुमारी थी। उस समय तक पंजाबी वेष-भूषा से मुझे बड़ी घृणा थी। जितने भी पंजाबी स्त्री-पुरुष मेरी दृष्टि में आये थे, अरुचिकर वेष-भूषा के कारण, मैंने उनकी ओर अच्छी तरह से देखा भी नहीं था। पर उस समय मैं इस परिवार के लोगों को देखकर चकित हो गया। मुझे स्पष्ट रूप से यह विदित हो गया कि मैं बड़े भ्रम में रहा। वेष-भूषा की उच्चता, सुन्दरता में और भी सुन्दरता ला सकती है; पर वह असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकती। सुन्दर शरीर में सुन्दर वस्त्राभूषण उसकी मोहकता को बढ़ा सकते हैं, पर असुन्दर शरीर में किसी प्रकार की वेषभूषा नहीं सोह सकती। फिर सुन्दरता के विषय में भिन्न-भिन्न रुचि हो सकती है। किसी एक देश की रुचि जिस वस्तु को सुन्दर समझती है, यह आवश्यक नहीं कि दूसरे देश में भी वह सुन्दर मानी ही जाय। दूसरे देश में, उसके स्थान पर, दूसरी वस्तु सुन्दर मानी जा सकती है। उस समय यही विचार मेरे हृदय में बार-बार आ-आकर दृढ़ हो गया।

---

* यह कहानी "दीपमालिका" नामक कहानी-संग्रह में देखिये।

व्यर्थ में किसी से छेड़-छाड़ करने का मैं बिलकुल आदी नहीं हूँ। परन्तु जब मैं किसी सुन्दर चीज़ को ज़रा सा भी कहीं देख पाता हूँ, तो एक बार उसे अच्छी तरह ज़रूर देख लेता हूँ। जिस समय यह पंजाबी परिवार मेरे डब्बे में आया, उस समय मैं एक उपन्यास पढ़ रहा था। तत्काल मेरा ध्यान उचट गया। देखता क्या हूँ कि वह तरुण कुमारी मेरी ओर देख रही है। उससे एक बार आँखें मिलाते ही मैं जैसे राजराजेश्वर हो गया! ऐसा मनोमुग्धकारी रूप-लावण्य मैंने इस से पूर्व कभी नहीं देखा था। पर शिष्टता का विचार कर मैंने अपनी आँखें वापस कर लीं। अब मैंने उपन्यास की ओर फिर ध्यान दिया। उसका पहला भाग मैं पढ़ रहा था, और दूसरा भाग मेरे आगे रक्खा हुआ था। कुमारी दूसरी ओर बेंच पर सामने ही बैठी हुई थी। मैं उपन्यास पढ़ तो रहा था, पर ध्यान नहीं लग रहा था। कुमारी ने बड़े विनम्र भाव से मुझसे कहा—महाशय जी, क्या मैं यह पुस्तक देख सकती हूँ।

मेरे हृदय में हलचल-सी मच गई। गाड़ी खूब तेज़ी के साथ जा रही थी। मेरे डब्बे के और सब लोग लेटे हुए थे। मैंने अपने मन में कहा—ऐसी निर्भीकता तो अपने प्रान्त की कुमारियों में हम नहीं पाते! उत्तर मैं मैंने कह दिया—सहर्ष।

फिर अपने हृदय को थामकर मैं अपने उपन्यास के साथ हो लिया। सिरहाने की ओर मेरा 'अटैची केस' रक्खा हुआ था। उपन्यास के पढ़ने में तो मेरा ध्यान उस समय लग नहीं रहा था, पर बार-बार अपने उस 'अटैची-केस' से एक पुस्तक निकालने के लिए मन अवश्य मचल उठता था। इसका कारण था। मैं यह

जानता था कि जो उपन्यास कुमारी ने पढ़ने को उठा लिया है, वह दूसरा भाग है। पहले भाग की कथा जाने बिना वह उसमें पूरा आनन्द न उठा सकेगी इस लिए इस पूरे और नये उपन्यास को उसके हाथों में पहुँचा देना ठीक होता; पर सब इस बात को उस से कहने का साहस मुझ में न था। इस लिए पहले तो मैं चुप रहा; पर मैंने अपने हृदय को देखा, वह बार-बार मुझे मेरी इस निर्बलता के लिए धिक्कारने लगा। लाचार होकर मैंने उस दूसरे नये उपन्यास को 'अटैची-केस' से निकालकर अपने आगे, उसी स्थान पर रख लिया, जहाँ से उस कुमारी ने वह उपन्यास उठाया था।"

दूसरे प्रकार का चरित्र-चित्रण उस समय होता है जब लेखक का पात्रों से कोई सरोकार नहीं रहता। एक पात्र का कथन दूसरे पात्र के चरित्र का दिग्दर्शन कराता है। लेखक चुपचाप एक कोने में बैठा रहता है। पात्रगण स्वयं एक दूसरे से बोलते हैं और इस वार्तालाप में पारस्परिक भावों और विचारों को प्रकट करते हैं जिससे हमें उनके चरित्र के बारे में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। देखिए—

"इतने में सारंधा भी वहीं आ पहुँची। शीतला ने नागिनी की तरह बल खा कर कहा—मर्यादा इतनी प्यारी है?

सारंधा—हाँ।

शीतला—अपना पति होता तो हृदय में छिपा लेतीं।

सारंधा—ना, छाती में छुरी चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—झोली में छिपाती फिरोगी। मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारंधा—जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।"

इस कथोपकथन से हमें शीतला और सारन्धा के चरित्र के न जाने कितने तत्त्व मिल जाते हैं। वर्तमान कला के रूप में यही दूसरे प्रकार का चित्रण आदर्श माना जाता है। बात यह है कि पात्रों में जीवन की शक्तियाँ आती हैं तो वे अपना वर्णन—चाहे आप ही क्यों न करें—पाठकों के सामने रखने के लिए दूसरे का मुख नहीं ताकते। यदि वे पाठकों के साथ कल्पना में चल-फिर सकते हैं, तो उन्हें अपना परिचय भी दे सकते हैं।

अभी तक हमने कथानक और चरित्र-चित्रण की अलग अलग विवेचना की है; किन्तु कहानियों में उनका सम्मिलन भी अवश्य होता है। न कहीं कथानक ही अकेला पाया जाता है और न चरित्र-चित्रण ही। ऐसी स्थिति में दोनों के सम्मिश्रण की विवेचना करना भी आवश्यक है।

साधारणतः हम दो प्रकार की कहानियों की विवेचना किया करते हैं। एक तो वे, जो पात्र-प्रधान रहती हैं, कथानक केवल उनके चरित्र-चित्रण का आधार-स्वरूप रहता है; दूसरे प्रकार की वे कहानियाँ होती हैं जो घटना अथवा कथानक-प्रधान रहती हैं। ऐसी कहानियों में पात्र केवल इस लिए बुलाये जाते हैं कि कहानी का कथानक किसी प्रकार रुकने न पाये। कथा सर्वश्रेष्ठ आसन पर बैठकर पात्रों का भर्त्सनापूर्ण शब्दों में तिरस्कार करती है। इन दोनों में, कला की दृष्टि से, कौन अच्छी है, यह

एक विवादग्रस्त प्रश्न है।

मेलविल डेवीसन (Melville Davisson) ने लिखा है कि एक अच्छी कहानी में कथानक पहले आता है चरित्र बाद को❀। किन्तु इसका उत्तर १७ अप्रैल सन् १९१५ में न्यूयार्क से प्रकाशित हुए 'सन' (Sun) में देखा जा सकता है।

यह आश्चर्य है कि वे (डेवीसन) चरित्र के गंभीर रहस्य और कौतूहल की ओर दृष्टिपात नहीं करते❀❀।

ओ० हेनरी के जितने कुतूहलवर्द्धक दृश्य हैं वे घटनाओं पर नहीं; वरन् व्यक्तियों पर निर्भर हैं †।

हम संसार के किसी उत्कृष्ट उपन्यास को देखें तो हमें पता चलेगा कि वह घटना-प्रधान नहीं, वरन् पात्र या व्यक्ति-प्रधान है। एक बात और है। कहानी जीवन की एक प्रधान घटना है।

❀ In a good story, plot comes first and character second.

❀❀ It seems strange that he (Mr. Davisson) does not perceive the profound interest of the mystery and surprise of character.

† His (Henry's) surprises are not generally dependent upon arbitrary arrangement of external circumstances but upon plausible shifts and bursts in the feelings and ideas of the human agents.

कहानी के क्षेत्र में हम सारे जीवन के चित्रण की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते । क्योंकि कहानी के कोने में सारा जीवन नहीं समा सकता । इसलिए कहानी में जीवन की कोई एक महान घटना बतलाई जाती है । उस समय पात्रगण के शान्त और होशियार रहने में ही उनके चरित्र-चित्रण की सफलता और विशेषता है।

अब हमें कथोपकथन या पात्रों के वार्तालाप की ओर आना चाहिये । विचार-पूर्वक देखा जाय तो कथोपकथन कहानी का सर्वोत्तम अंश है। इस अंश के सहारे हम कहानी के पात्रों से मिलते और उनके स्वभाव और चरित्र के विषय में जानते हैं । यही एक ऐसा तत्त्व है जो पात्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। उन्हें मूक से वाचाल बनाता है । यह तत्त्व उन के भावोन्माद, विचार, इच्छाओं आदि का स्पष्टीकरण बड़ी मनोहर रीति से करता है । कथोपकथन की उत्कृष्टता की जाँच करने के लिए दो नियम हैं। प्रथम स्थान में तो कहानी में उसका आवश्यक भाग होना उचित है, अर्थात् कथानक के प्रवाह में उसे व्यक्त रूप से अथवा अव्यक्त रूप से सहायता देनी चाहिए अथवा पात्रों के चरित्र की बातें बतलानी चाहिएँ । जो कथानक कहानी का आवश्यक भाग न हो वह चाहे कितना ही मनोरंजक क्यों न हो कहानी में रहने का अधिकारी नहीं है ।

कथोपकथन कथानक का आवश्यक भाग रहते हुए स्वाभाविक, उपयुक्त और भावात्मक हो, बोलनेवाले के अनुरूप हो। साथ ही परिस्थिति के उपयुक्त हो; सरल स्पष्ट और मनोरंजक

हो। उसका प्रत्येक शब्द आगामी घटना से सम्बन्ध रखता हो। श्री प्रेमचन्द रचित "दुर्गा का मन्दिर" का कथोपकथन दोनों बातों की पूर्ति करता है। देखिये—

"भामा ने सावरेन देखे, हृदय में एक गुदगुदी सी हुई। पूछा—किसकी हैं ?

ब्रज०—मेरी।

भामा—चलो, कहीं हों न।

ब्रज०—पड़ी मिली हैं।

भामा—झूठी बात। ऐसे ही भाग्य के बली हो तो सच बताओ कहाँ मिलीं ? किसकी हैं ?

ब्रज०—सच कहता हूँ, पड़ी मिली हैं।

भामा—मेरी कसम ?

ब्रज०—तुम्हारी कसम।

भामा गिन्नियों को पति के हाथ से छीनने की चेष्टा करने लगी।

ब्रजनाथ ने कहा—क्यों छीनती हो ?

भामा—लाओ, मैं अपने पास रख लूँ।

ब्रज०—रहने दो, मैं इनकी इत्तला करने थाने जाता हूँ।

भामा का मुख मलिन हो गया। बोली—पड़े हुए धन की क्या इत्तला ?

ब्रज०—हाँ, और क्या, इन चार गिन्नियों के लिए ईमान बिगाड़ूँ न ?

भामा—अच्छा तो सवेरे चले जाना। इस समय जाओगे, तो आने में देर होगी।

ब्रजनाथ ने भी सोचा, यही अच्छा। थानेवाले रात को तो 'कोई कार्रवाई करेंगे नहीं। जब अशर्फियों को पड़ा ही रहना है, तब जैसे थाना, वैसे मेरा घर।

गिन्नियाँ सन्दूक में रख दीं। खा-पीकर लेटे तो भामा ने हँस कर कहा—आया धन क्यों छोड़ते हो? लाओ, मैं अपने लिए एक गुलूबन्द बनवा लूँ। बहुत दिनों से जी तरस रहा है।

भामा ने इस समय हास्य का रूप धारण किया था।

ब्रजनाथ ने तिरस्कार करके कहा—गुलूबन्द की लालसा में गले में फाँसी लगाना चाहती हो क्या?"

यह कथोपकथन कितना परिस्थिति के उपयुक्त, सरल, स्पष्ट और मनोरंजक है!

अब हम अपनी कहानी के चतुर्थ अंग शैली पर दृष्टिपात करते हैं। भाषा, भाव अथवा कल्पनाओं के द्वारा जो लेखक अपने कथानक को जितना ही प्रभावोत्पादक बना सकेगा वह उतनी ही अच्छी शैली को जन्म देगा। इसमें चातुर्य की बहुत आवश्यकता है।

एडगर एलन पो (Edger Allan Poe) ने अपने 'ऐसे औन ब्रायंट' (Essay on Bryant) में लिखा है—

कहानी-लेखक में प्रतिभा और चातुर्य दोनों ही का सम्मिश्रण होना बहुत आवश्यक है*। एक दूसरे महाशय Scribe

---

* How few are willing to admit the possibility of reconciling genius with artistic skill! Yet this

कहा करते थे—

जब मेरा विषय अच्छा है, जब मेरा प्रतिन्यास स्पष्ट है तब तो मैं अपना रूपक अपने नौकर से भी लिखा दूँ। वस्तु-परिस्थिति से ही वह लिख ले जायगा और मेरी रचना सफल होगी।*

जब गो बरनर मारीस से पूछा गया कि अंगरेज़ी में सबसे अच्छी कहानी कौन सी है तो उसके उत्तर में उन्होंने बहुत सी कहानियों का न:म लेते हुए अन्त में हँसते हुए कहा—

जब तक किसी अन्य ने कहानियाँ नहीं लिखीं तब तक तो मैं अपनी कहानियों को ही अच्छी मानता हूँ†।

ऊपर के वाक्य में शैली का किनता अधिक मर्म भरा हुआ है। कोई भी कहानी कितनी ही अच्छी क्यों न हो, जब तक वह सुन्दर शैली में लिखी न जाय उसका कुछ असर ही नहीं हो सकता। शैली ही मंच है जिस पर आकार, भाव और विचार

---

conciliation is not only possible, but an absolute necessity.

* When my subject is good, when my scenario is very clear, I might have the play written by my servant, he would be sustained by the situation—and the play would succeed.

† I like mine own stories better than any body elses'—until they are written.

अपना सुन्दर अभिनय दिखाते हैं। बिना मंच के वे परदे के भीतर ही छिपे रह जाते हैं। इसी लिए शैली का महत्त्व इतना अधिक है।

अंग्रेज़ी में स्टीवेन्सन अपनी शैली ही के लिए मशहूर है। उसके निबन्धों में आप ऐसा एक भी शब्द न पायेंगे जो निरर्थक अथवा व्यर्थ हो। प्रत्येक शब्द अपनी जगह पर इतना तुला हुआ बैठा रहेगा कि उसे कोई निकाल नहीं सकता। उसके बदले अगर उसका पर्यायवाची शब्द भी रखा जाय तो उसमें वह शक्ति न होगी जो पहले शब्द में है। एक शब्द अथवा वाक्यांश निकालने से सारा वाक्य निर्बल हृदय के समान निस्पन्द पड़ जाता है। उसकी सजीवता जाती रहती है। उदाहरणार्थ स्टीवेन्सन की 'मारखाइम' कथा का एक भाग लीजिये। इसके अनुवाद न करने के लिए आप मुझे क्षमा करें। क्योंकि हिन्दी में इसका अनुवाद इससे अच्छा या बुरा हो सकता है, ठीक ऐसा ही नहीं। मौलिक कृति ही पर दृष्टिपात करें।

Time had some score of small voices in that shop, some stately and slow as was becoming to their great age; others garrulous and hurried. All these told out the seconds in an intricate chorus of tickings. Then the passage of a lad's feet, heavily running on the pavement, broke in upon these smaller voices and startled Markheim into a consciousness of his surroundings. He

looked about him awfully. The candle stood on the counter, its flame solemnly wagging in a draught, and by that inconsiderable movement, the whole was filled with noiseless bustle and kept heaving like a sea; the tall shadows nodding, the gross blots of darkness swelling and dwindling as with respiration. the faces of the portraits and the China gods changing and wavering like images in water. The inner door stood ajar, and peered into that leaguer of shadows with a long slit of daylight like a pointing finger.

'pointing finger' यहाँ कथानक के इतना उपयुक्त रक्खा गया है कि स्थिति का पता बड़ी मार्मिक रीति से हृदय पर अंकित हो जाता है। इस अवतरण की शब्दावली कितनी सुमधुर है! उसमें एक ऐसा राग और ऐसा स्वर निकलता है कि हृदय कहानी के वातावरण में बिलकुल निमग्न हो जाता है। दस पन्नों में कही जाने वाली बात स्टीवेन्सन ने सिर्फ आधे पृष्ठ पर अंकित कर दी है। इसी में उसकी शैली की उत्कृष्टता का परिचय मिलता है।

हिन्दी में प्रेमचन्द जी की कहानियों में कहीं-कहीं ऐसी उत्कृष्ट झलक मिल जाती है। "दुर्गा का मन्दिर" कहानी का आरम्भिक अवतरण लीजिये—

"बाबू ब्रजनाथ कानून पढ़ने में मग्न थे और उनके दोनों बच्चे लड़ाई करने में। श्यामा चिल्लाती कि मुन्नू मेरी गुड़िया नहीं देता। मुन्नू रोता था कि श्यामा ने मेरी मिठाई खा ली।

ब्रजनाथ ने क्रुद्ध होकर भामा से कहा—तुम इन दुष्टों को यहाँ से हटाती हो या नहीं ? नहीं मैं एक एक की खबर लेता हूँ।

भामा चूल्हे में आग जला रही थी। बोली—अरे तो अब क्या सन्ध्या को भी पढ़ते ही रहोगे ! जरा दम तो ले लो।

ब्रज०—उठा तो न जायगा, बैठी-बैठी वहीं से कानून बघारोगी। अभी एक आध को पटक दूँगा तो वहाँ से गरजती हुई आओगी कि हाय ! हाय ! बच्चे को मार डाला।

भाभा—तो मैं कुछ बैठी या सोई तो हूँ नहीं। ज़रा एक घड़ी तुम्हीं लड़कों को बहलाओगे तो क्या होगा। कुछ मैंने ही तो उनकी नौकरी नहीं लिखाई !

ब्रजनाथ से कोई जवाब देते न बन पड़ा। क्रोध पानी के समान बहाव का मार्ग न पाकर और भी प्रबल हो जाता है। यद्यपि ब्रजनाथ नैतिक सिद्धान्तों के ज्ञाता थे, पर उनके पालन में इस समय कुशल न दिखाई दी। मुद्दई और मुद्दालह, दोनों को एक ही लाठी से हाँका, और दोनों को रोते-चिल्लाते छोड़, कानून का ग्रन्थ बगल में दबा, कालेज-पार्क की राह ली।"

इसमें हृदय की खिन्नता और फलस्वरूप विषाद बड़ी भाव-व्यंजक शैली में चित्रित है। भाव इतने तीव्र हैं कि वे गाड़ी में नये सिखलाये हुए घोड़ों की भाँति भाषा को बड़े ज़ोर से ले भागते हैं। ऐसी शैली कहानियों में अभिनन्दनीय है।

श्रीभगवतीप्रसाद जी वाजपेयी रचित "अन्ना" शीर्षक कहानी की शैली देखिये—

"डायरी के अंश में लिखा है—

जब से इसे व्याह कर लाया हूँ, तभी से यह निरंतर इसी तरह उन्मना रही है। मुसकान-माधुरी की वे रेखाएँ अधरों पर कभी देखने को नहीं मिलीं, जिससे मेरा मन-मयूर एक बार नाच उठता! लावण्य-बाला की एक मुसकान में ग़जब की शक्ति होती है। माता-पिता, भाई-बहन, धन-सम्पत्ति और अमित वैभव को लावण्यता की एक मुसकान-मात्र पर लोग निछावर कर देते हैं? अन्ना में क्या नहीं था? शरीर की ऐसी मोहक गठन तो मेरे देखने में कभी आई ही नहीं। उसकी जैसी नुकीली आँखें तो कहीं देखने को मिली ही नहीं। यदि वह एक बार—केवल एक बार ही—ज़रा सा हँस देती, तो मैं कितना बड़ा सौभाग्यशाली होता। पर कहाँ? गिनती के दो ही महीने तो वह यहाँ रह सकी थी। प्राणों के बीचोंबीच छिपाकर, बड़े प्यार से रक्खा, असीम आशा-तरंगों के महोदधि में तैरते हुए, अनंत की शून्य गोद में, उसे पाया, और तब से उसे सदा अपनी हृदय-मुद्रिका में नगीने की भाँति रक्खा—देखा और चाहा। पर, अंत में, मुझे शून्य में छोड़कर वह चली ही गई! न तब समझ पाया था—न अब समझ पाया हूँ कि उसकी मनोव्यथा क्या थी! यदि उसकी व्यथा जान पाता, तो जैसे भी होता, उसे दूर करता। यही एक भ्रान्ति अब इस जीवन के साथ जायगी।

सदा के लिए चुपचाप सो जाने से कुछ समय पूर्व उससे मन को दो-एक बातें हो पाई थीं।

उफ़ ! बड़ी भयानक रात थी वह। सर्दी के दिन थे। खूब जाड़ा पड़ रहा था।

उसने कहा—सुनते हो ?

मैंने कहा—हाँ, कहो।

वह—मेरी एक बात मानोगे ?

मैं—क्या अभी तक तुम्हें मुझसे यह जानना बाकी है कि मैं तुम्हारी कोई बात टाल नहीं सकता, चाहे फिर···।

बस, इतना ही कह पाया था कि बीच में ही उसने कहा—इसी से तो तुमसे कहती हूँ। (अब उसकी आँखें आँसुओं से तर हो गई थीं) तुम्हें पहचानती न होती, तो तुम से यह कहने का साहस ही न होता।

वचन तो दे चुका था, पर उसमें था क्या, इसका मुझे क्या पता था ! इसलिए उस समय मेरे प्राण आकुल हो रहे थे।

उसने कहा—मुझे भूल ही जाना, मैं तुम्हारे प्रेम के योग्य न थी। यही समझना, जैसे तुम अभी तक कुआँरे ही हो।

मैंने कहा—अच्छा, जानती हो, तुम मेरा सोने का संसार मिट्टी में मिलाये जा रही हो ! इतने पर भी तुम्हें संतोष न हुआ ! तुम जो बात कह रही हो, वह कितने मूल्य की है, यह भी जानती हो ?

वह—जानती हूँ, और इसी से कहती हूँ। तुम्हारा हृदय कुबेरालय है। चाहे जितनी सम्पत्ति उससे उलीच दी जाय, फिर भी तुम निर्धन नहीं हो सकते।

मैं भला उसकी इस बात का क्या उत्तर देता !

मैंने कहा—नहीं रानी, मुझसे यह न हो सकेगा।

अब मेरी आँखों में आँसू छलछला आये थे। उसने कहा—देखो, रोओ नहीं, इधर देखो; मेरी बात न मानोगे, तो मुझे मुक्ति न मिलेगी।

अब मैं अपने आँसुओं को रोक न सका।

वह—बोलो, क्या कहते हो?

मैं—अच्छा, जैसी तुम्हारी मरज़ी।

मैं रोता ही रहा। थोड़ी देर में उसने अपनी अनंत यात्रा की तैयारी कर दी।

इससे ३-४ दिन पूर्व की एक बात और है। वह अपने हाथ में एक पुस्तक लिये हुए थी। मैंने कहा—तुम्हें यह पुस्तक पसंद है?

उसने कहा—इतनी कि इसे अब मैं मरते हुए भी अपने साथ ले जाना चाहती हूँ।

मैं—ऐसी निराशा की धारणा क्यों बना रक्खी है? डाक्टर साहब तो कहते हैं, तुम्हारी हालत अब सुधर रही है।

वह—वे झूठ नहीं कहते, और मैं भी ठीक ही कहती हूँ।

मैं—मैं कुछ समझा नहीं।

उत्तर में उसने कुछ न कह कर एक ठंढी साँस भर ली। इसके बाद फिर यह प्रसंग समाप्त हो गया।

अब—अब क्या है? जितने दिन रहना है, रहूँगा। जीवन में कोई आशा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है।"

इस अंश में हृदय की करुणाव्यंजक प्रकृति ने कथोपकथन को इतना सुन्दर रूप दे दिया है कि हृदय में एक प्रकार की वेदना का आविर्भाव हो ही जाता है।

हमें हिन्दी में एक दूसरे प्रकार की शैली मिलती है जिसमें बाह्य शृंगार की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। उसमें भावों की तीव्रता बहुत कुछ भाषा की बाह्य सजावट से घट जाती है। स्वर्गीय बाबू चंडीप्रसाद जी "हृदयेश" की शैली इसी प्रकार की है—

"धीरे-धीरे संध्या का प्रथम प्रहर अतीत होने लगा। चन्द्रदेव का पांडु मुख श्वेत-वर्ण होने लगा। शैवालिनी ऊपर की ओर दृष्टि करके कहने लगी—'चन्द्रदेव! तुम सबको देखते हो, तुम्हें भी सब देखते हैं। क्या कृपा करके सुरेन्द्र से मेरा संदेश कह दोगे? लक्ष्मी-सहोदर, तुम सबको जानते हो! कहना, प्यारे सुरेन्द्र! आज तुम्हारे बिना पूर्णिमा की प्रकाशमयी रजनी में भी, शैवालिनी के लिए घोर अन्धकार है!'

चन्द्रदेव ने अज्ञात रूप में कुछ कहा—शैवालिनी—निर्बोध बालिका उन के आन्तरिक भावों को न समझ सकी।

प्रथम प्रहर अतीत हो गया। प्रकृति प्रसुप्त हो गई। किन्तु, शैवालिनी! हाय! शैवालिनी आज चिन्ता के वशीभूत है।'

(योगिनी—हृदयेश)

कहीं कहीं कहानी में व्यङ्ग्य और हास्य भी प्रयुक्त होता है। पर ये दोनों हथियार ऐसे हैं जिनका चलाना बड़ी सावधानी चाहता है। ये दोनों तलवार की दो धारें हैं जो ज़रा-सा चूकने पर सारी कहानी के टुकड़े-टुकड़े कर देती हैं। हास्य के प्रयोग में दो बातें विशेषतया ध्यान में रखने योग्य हैं। पहली तो यह कि वह हास्य अश्लील न होने पाये, शिष्ट और सभ्य हो।

दूसरे, हास्य का उस समय प्रयोग न किया जाय जब लेखक किसी कारुणिक चित्र को चित्रित करता हो! दोनों ही स्थितियों में हास्य का महत्त्व केवल कम ही नहीं होता, वरन् सारे कथानक को मिट्टी में मिला देता है। हास्य का एक उदाहरण प्रेमचन्द जी की कहानी में इस प्रकार है—

"यह वह समय था जब अँगरेज़ी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही समझते थे। फारसी का प्राबल्य था। प्रेम की कथाएँ और शृंगाररस के काव्य पढ़कर फ़ारसी-दाँ लोग सर्वोच्च पदों पर नियुक्त हो जाया करते थे। मुंशी वंशीधर भी ज़ुलेखा की विरह-कथा समाप्त करके मजनूँ और फ़रहाद के प्रेम-वृत्तान्त को नल और नील की लड़ाई और अमेरिका के अविष्कार से अधिक महत्त्व की बातें समझते हुए रोज़गार की खोज में निकले। उनके पिता एक अनुभवी पुरुष थे। समझाने लगे—बेटा, घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ से दबे हुए हैं। लड़कियाँ हैं, घासफूस की तरह बढ़ती चली जाती हैं! मैं करार पर का वृक्ष हो रहा हूँ। न मालूम कब गिर पड़ूँ।"

इसमें हास्य और व्यंग्य कितना शिष्ट है!

अब हमें कहानियों में प्रकृति-वर्णन देखना है। प्रकृति-वर्णन के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो स्वभाव से, अथवा स्वाभाविक विचारों और मनोवेगों से, सम्बन्ध रखता है और दूसरा अर्थ बाह्य संसार के जड़ किन्तु सुन्दर स्वरूप की ओर निर्देश करता है। हमें कहानियों में दोनों ही प्रकार के प्रकृति-वर्णन मिल सकते हैं। देखिये—

"एक घंटे तक दोनों चुपचाप बैठे रहे। बीच-बीच में प्रोफेसर साहब नाड़ी देख लेते थे। बारह बजने से कुछ मिनट पहले प्रोफेसर साहब ने फिर नाड़ी देखी। देखते ही उनके चेहरे का रंग उड़ गया। वह घबरा कर सुखदेई से बोले इस समय तो नाड़ी बहुत गिरी हुई मालूम होती है। यह कह कर शीघ्रता-पूर्वक उठे और उन्होंने फिर दवा की एक मात्रा पिलाई। परन्तु दवा गले के नीचे न उतरी। प्रोफेसर साहब घबड़ा गये। हृदय और आँखों ने अपना काम एक साथ किया। हृदय से एक साँस निकली, और आँखों से अश्रु-धारा बह चली। उन्होंने शीशी पटक दी, और राधे के मुख पर अपना मुख रखकर बच्चों की तरह रोने लगे। सुखदेई की आँखों से भी आँसू बहने लगे।"

कौशिक—(नास्तिक प्रोफेसर)

संसार के बाह्य रूप के चित्रण के सम्बन्ध में हमें प्रकृति-वर्णन में दो बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ। एक तो यह कि वह कितनी सुन्दरता से प्रकृति का वर्णन कर सकता है जिससे भावों में तेजस्विता आ जाय अथवा विचारों का वातावरण-सा बन जाय। और दूसरे यह कि प्रकृति-वर्णन में पात्रों से कितनी अधिक सहानुभूति अथवा विरोध है। इन्हीं दो बातों के सहारे हम प्रकृति-वर्णन को अच्छा या बुरा समझते हैं।

भावों को रोचक और तेजस्वी बनाने वाले प्रकृति-वर्णन का उदाहरण इस प्रकार है:—

"अमावस्या की अँधेरी रात गिरिजा के अन्धकारमय जीवन की भाँति समाप्त हो चुकी थी। खेतों में हल चलाने वाले किसान ऊँचे और सुहावने स्वर से गा रहे थे। सर्दी से काँपते हुए बच्चे

सूर्य देवता से बाहर निकलने की प्रार्थना कर रहे थे। पनघट पर गाँव की अलबेली स्त्रियाँ जमा हो गई थीं। पानी भरने के लिए नहीं; हँसने के लिए। कोई घड़े को कुएँ में डाले हुए अपनी पोपली सास की नकल कर रही है, कोई खंभों से चिमटी हुई अपनी सहेली से मुसकरा मुसकरा कर प्रेम-रहस्य की बातें करती है। बूढ़ी स्त्रियाँ रोते हुए पोतों को गोद में लिये हुए अपनी बहुओं को कोस रही थीं कि घंटे भर हुए अभी तक कुएँ से नहीं लौटीं। किन्तु राजवैद्य लाला शंकरदास अभी तक मीठी नींद ले रहे थे।"

प्रेमचन्द—(अमावस्या की रात्रि)

पात्रों के भावों में स्वर मिलाने वाली और उसके साथ जीवन की शक्तियाँ रखने वाली प्रकृति का वर्णन प्रेमचन्द जी की "धोखा" कहानी में देखिये—

"योगी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—हम योगी लोग नारायण का भजन करते हैं। ऐसे-ऐसे दरबारों में हम भला क्या गा सकते हैं। पर आपकी इच्छा है तो सुनिये—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति।
कहँ वह प्रीति कहाँ यह बिछुरन कहँ मधुबन की रीति।
कर गये थोड़े दिन की प्रीति॥

योगी का रसीला, करुण स्वर, सितार का सुमधुर निनाद उस पर गीत का माधुर्य प्रभा को बेसुध किये देता था। इसका रसज्ञ स्वभाव और उसका मधुर, रसीला गाना—अपूर्व संयोग था। जिस भाँति सितार की ध्वनि गगनमंडल में प्रतिध्वनित हो रही थी, उसी भाँति प्रभा के हृदय में लहरों की हिलोरें उठ रही थीं। वे भावनाएँ

जो अब तक शान्त थीं, जाग पड़ीं। हृदय सुख-स्वप्न देखने लगा। सतीकुण्ड के कमल, तिलस्म की परियाँ बन-बनकर मँडराते हुए भौंरों से कर जोड़ सजल नयन कहते थे—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति।

सुर्ख और हरी पत्तियों से लदी हुई डालियाँ, सिर झुकाये चहकते हुए पत्तियों से रो-रो कर कहती थीं—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति।

और राजकुमारी प्रभा का हृदय भी सितार की मस्तानी तान के साथ गूँजता था—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति।"

शैली के अन्तर्गत अब हमें यह देखना है कि कहानी में सत्य की कितनी मात्रा रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि कहानी का अधिकतर भाग लेखक की कल्पना से ही प्रसूत होता है, उसके बहुत से रोचक भाग लेखक के दिमाग़ की उपज से ही लिखे जाते हैं; पर यह सर्वांश में मानना पड़ेगा कि उसमें जीवन के छिपे हुए व्यापक सत्य की यथेष्ट मात्रा होती है। जीवन की सारी विभूतियाँ अथवा जीवन का मंत्र उसी उत्कृष्ट कहानी में अन्तर्हित रहता है। चाहे कहानी के पात्रों का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं, पर उनके जीवन की घटनाओं का अस्तित्व संसार में अवश्य रहता है। किसी ने एक समय कहा था—

कहानी में नाम और तारीख के अतिरिक्त सब सत्य है और इतिहास में नाम और तारीख के सिवाय सब असत्य

है*।

यद्यपि मैं इस सिद्धान्त से पूर्णतः सहमत नहीं हूँ किन्तु यह मैं अवश्य मानता हूँ कि कहानी में जीवन सत्य का वास्तविक स्वरूप सदैव अन्तर्हित रहता है, चाहे वह थोड़ा हो अथवा अधिक।

कहानी में कुछ उद्देश्य अवश्य रहता है। उद्देश्य से मेरा तात्पर्य जीवन की किसी विशेष दशा के चित्रण से है। कई समालोचकों का कथन है कि कहानी केवल कला के लिए ही लिखी जानी चाहिए। उसमें उद्देश्य अथवा उपदेश की आवश्यकता नहीं है। कला का विकास ही उसका विकास हो यह बात सर्वांश में सत्य नहीं है। कला का विकास करना भी तो कहानी का उद्देश्य होना चाहिये। ऐसी स्थिति में यदि कहानी कला के विकास का ध्यान सामने रखते हुए जीवन की विशेष घटनाओं का उल्लेख कर दे तो इसमें हानि नहीं, वरन् लाभ ही होना चाहिए। अतएव जब कोई कहानी लिखी जाय तो लेखक को इस बात की चिन्ता न होनी चाहिये कि मैं इस कहानी को किस उद्देश्य से लिखूँ पर यह ध्यान होना चाहिए कि मैं इस कहानी को कला का रूप देता हुआ कहाँ तक जीवन के अंगों में घटा सकता हूँ। यही कहानी का उद्देश्य होना चाहिये।

---

* In fiction everything is true except names and dates, in history nothing is true except names and dates.

प्रेमचन्दजी की "आत्माराम" शीर्षक कहानी उद्देश्यहीन होकर कला के रूप से ठीक नहीं उतर सकी है।

इस कहानी में उद्देश्य तो है ही नहीं; साथ ही जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का तारतम्य भी स्वाभाविक रीति से नहीं रक्खा गया।

कहानी में जो सबसे पहली बात होनी चाहिये, वह मौलिकता है। मौलिकता का यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक, पात्र, कथोपकथन आदि सर्वांश में मौलिक ही हों। कारण ऐसे कथानक न जाने कबके समाप्त हो गये। कहने का मतलब यह है कि पुराने कथानकों के उलट फेर से ऐसी कहानी तैयार की जाय जो देखने में मौलिक प्रतीत हो। सामान वही हो, किन्तु कहानी देखने में नयी सी जान पड़े। तुलसीदास अथवा शेक्सपियर की मौलिकता नये कथानकों की सृष्टि में नहीं थी; किन्तु पात्रों की सृष्टि में थी। काव्य-उत्पादन-शक्ति पर ही उनकी श्रेष्ठता अवलम्बित है। कहानी मनोरंजन की प्रधान सामग्री है। कला के रूप के सिवाय उसे हृदय की सूक्ष्म भावनाओं को भी जागरित करना पड़ता है। यदि किसी भाँति कहानी मौलिक न हुई तो वह पाठकों का भला क्या मनोरंजन कर सकेगी! एक कहानी-लेखक भाग्यवान है यदि वह एक वर्ष में अपनी कहानी के लिए चार-पाँच विचार पा लेता है। उसकी अन्य कहानियाँ जो प्रायः हर महीने लिखी जाती हैं, उसकी रचना-शैली पर निर्भर रहती हैं—विचारों पर नहीं।

मौलिकता का एक उत्कृष्ट रूप वह भी है जिससे साधारण

वस्तुओं को साधारण रूप से वर्णन करते समय जीवन के सच्चे रूप की अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि यह सबसे कठिन काम है, किन्तु जब यह सफलता-पूर्वक होता है तो वह उत्कृष्ट प्रतिभा का सच्चा नमूना भी होता है। इसी उत्कृष्ट रूप को बर्न्स (Burns) ने अपनी कविता में प्रदर्शित किया है। प्रेमचन्दजी की कुछ कहानियाँ भी इसी ढँग की हैं।

कथानक के लिए किसी अन्य कथानक की चोरी नहीं करनी चाहिये। एक बार फ्लावर्ट ने गाइ-दी-मोपासाँ को जो मौलिकता के विषय में उपदेश दिया था, वही हिन्दी-कहानी-लेखकों को दिया जा सकता है।❀

❀Everything which one desires to express must be looked at with sufficient attention, and during a sufficiently long time, to discover in it some aspect which no one has yet seen or described. In every thing there is still some plot unexplored because we are accustomed only to use our eyes with the recollection of what others before us have thought on the Subject which we contemplate. The smallest object contains some thing unknown, find it. To describe the fire that flames and a tree on plain, look, keep looking at the flame and that tree until in your

उसका तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का तुम वर्णन करना चाहते हो उसे बहुत ध्यानपूर्वक और बड़ी देर तक देखते रहो, उतने ध्यानपूर्वक और उतनी देर तक, जब तुम्हें उसमें कोई ऐसी बात न दिखाई देने लगे जिसको तुमसे पहले और किसी ने नहीं देखा या जिसका और किसी ने वर्णन नहीं किया।

प्रत्येक वस्तु में आज भी कोई न कोई ऐसा भेद सन्निहित है जिसका अभी तक अन्वेषण नहीं हो सका है। साधारण जन दूसरों की आँखों से देखते हैं, दूसरों के विचारों

---

eyes they have lost all resemblance to any other tree or any other fire.

This is the way to become original.

When you pass a grocer seated at his shop-door, a janitor smoking his pipe, a stand of hackney coaches, show me that grocer and janitor—their attitude, their whole physical appearance—embracing likewise, as indicated by the skilfulness of the picture, their whole moral natures so that I can not confound them with any other grocer or any other janitor. Make me see in one word, that a certain cabhorse does not resemble the fifty others that follow or precede it.

से उनकी विचार-धारा बनती है। लेखक का मार्ग इनसे भिन्न है। उसे छोटी-सी वस्तु में भी उसका अज्ञात तत्त्व ढूँढ निकालना चाहिए। ऐसा तत्त्व वहाँ सदैव मौजूद रहता है। हमारे सामने आग जल रही है, मैदान में दरख्त खड़ा है, उन्हें देखो और उस समय तक देखते रहो जब तक वह आग और वह दरख्त तुमको और दूसरी आगों और दूसरे दरख्तों से एक विशेष प्रकार से भिन्न न मालूम होने लगे। और फिर उसी प्रकार से उनका वर्णन करो। बस यही मौलिक बनने का उपाय है।

ठीक यह अवतरण कहानी-लेखक पर भी घटित होता है। हमारे कहानी लेखकों को उसी भाँति मौलिक होना चाहिए।

कहानी में दूसरी बात यह हो कि उसकी घटनाओं पर स्वाभाविक रीति से विश्वास आ जाय। यदि कोई ऐसा कार्य कहानी में कथित हो जो अविश्वसनीय हो, तो उससे सारी कहानी का पुर्जा ढीला हो जाता है। चाहे सर्वांश में असम्भव बातें न हों, तो भी उससे कहानी के प्रभाव पर बड़ा गहरा धक्का पहुँचता है। ये असम्भव घटनाएँ विशेषकर अलौकिक बातों से सम्बन्ध रखती हैं। ऐसी घटनाएँ साधारण जीवन में किस प्रकार प्रकट हो सकती हैं? हमें तो कहानी में ऐसी घटनाएँ रखनी चाहिएँ जो सहज ही समझ में आ सकें और उनके अस्तित्व पर किसी को आशंका या विस्मय न हो।

तीसरी बात यह है कि कहानी में लेखक का व्यक्तित्व भली भाँति प्रकट हो जाना चाहिये। साधारण कथा-वस्तु, जिससे पाठक परिचित हैं अथवा साधारण परिस्थिति (जो पाठक

पहले ही से जानते हैं) किसी भी भाँति मनोरंजन नहीं कर सकती। ऐसी कथा-वस्तु अथवा परिस्थिति में लेखक का व्यक्तित्व भी नहीं होता। कथानक में तो लेखक के भावोन्माद, आकांक्षा, उद्गार और गांभीर्य सभी को होना चाहिये। ऐसी स्थिति ही में कहानी में लेखक का व्यक्तित्व झलक सकता है, अन्यथा नहीं। और जिस कहानी में लेखक का व्यक्तित्व ही नहीं, वह कहानी उस लेखक की सच्ची कहानी नहीं है।

कहानी में चौथी बात यह होनी चाहिये कि वह सरस हो। नीरसता छू कर भी न हो। यदि कहानी नीरस होगी तो वह स्वयं अपने उद्देश्य मनोरंजन से गिर जायगी। कला के विकास के साथ कहानी का एक उद्देश्य मनोरञ्जन करना भी है। ऐसी स्थिति में यदि कहानी नीरस हुई तो वह कहानी ही नहीं है। नीरसता अधिकतर कार्य अथवा व्यापार के अभाव में आ जाती है। शेक्सपियर जहाँ देखता था कि अमुक स्थान पर नीरसता प्रसार करना चाहती है उसी समय वह वहाँ कार्य-व्यापार की सृष्टि कर देता था। फल यह होता था कि दर्शकों का मन उसी समय कार्य की ओर आकृष्ट हो जाता था और कार्य की व्यंजना सरसता का आविर्भाव कर देती थी। कहानी में नीरसता सब से अक्षम्य अपराध है। कहानी-लेखकों को इससे सदैव बचना चाहिये।

पाँचवाँ बात यह होनी चाहिए कि लेखक की कहानी-तत्त्व से पूरी जानकारी हो। जिस विषय को लेखक बिलकुल नहीं जानता उस विषय के महत्त्व को, वातावरण को छूना भी उसके लिए हानिकारक है। जब तक कहानी में सत्यता और स्वाभा-

विकता नहीं होगी तब तक वह कला के किसी भी अंग की पूर्ति नहीं कर सकती। कथा-वस्तु में कल्पना होनी चाहिये, पर इतनी नहीं कि वह सत्य के रूप ही को विकृत कर दे। सत्य प्रधान रूप से हो और कल्पना सहायक परिचारिका की भाँति। मिस एडना फ़रबन ने ब्रॉडवे टू ब्यूनॉस एयर्स (Broadway to Buenos Aires) में दक्षिण अमेरिका के विषय में भद्दी कल्पना करते हुए लिखा है कि वहाँ स्पेनिश बोली जाती है। इस बात की जाँच करने के लिए एक महाशय स्वयं दक्षिण अमेरिका गये। वहाँ जाने पर उन्हें पता चला कि वहाँ स्पेनिश नहीं वरन् पुर्तगीज़ बोली जाती है। फ़रबन महाशया को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी। उन्होंने अपनी कल्पना के आगे सत्य को कुएँ में ढकेल दिया था! कहानियों में ऐसा होना अनुचित है। डीफ़ो ने रॉबिन्सन क्रूसो नाम का उपन्यास लिखा है। वह घटनाओं की दृष्टि से एक सफल उपन्यास है पर उसमें जो समुद्र अथवा रेगिस्तान का वर्णन है वह सच्चा नहीं है। क्योंकि डीफ़ो महाशय को स्वयं रेगिस्तान और समुद्र का पूरा पूरा ज्ञान नहीं था। अतएव लेखक को अपनी कहानी में ऐसे विषय को छूना भी नहीं चाहिये जो उसकी कल्पना के बाहर हैं अथवा जिनके बारे में उसका ज्ञान अपर्याप्त है।

कहानी में छठी बात यह है कि विषय अवांछनीय न हो। कथानक का स्वरूप ऐसा हो जो हृदय में घृणा नहीं, वरन् अनुराग और उत्सुकता उत्पन्न करे। सारी कला रहते हुए भी यदि विषय बीभत्स हो गया तो कहानी का सौन्दर्य शून्य हो जाता

है। कहानी वही अच्छी होगी जिसका भावात्मक प्रभाव सदैव हृदय पर पड़ेगा। और यह तभी हो सकता है जब भाव की सार्थकता, शक्ति, व्यापकता और उत्कृष्टता भाव के प्रवाह के साथ मिलेगी।

सातवीं और अन्तिम बात यह है कि कहानियाँ मस्तिष्क की नहीं, वरन् हृदय की चुटकी लें। उन्हें मतिष्क को उतना प्रसन्न नहीं करना चाहिये जितना कि हृदय की सूक्ष्म और सुकुमार भावनाओं को। जो कहानी हृदय में जितनी ही गहरी चुटकी लेगी वह उतनी ही प्रभावोत्पादक और मनोरंजक होगी। अंग्रेज़ी के एक लेखक ने भी यही लिखा था—

"The stories that touch the heart are most popular" अर्थात् जो कहानियाँ हृदय को छू लेती हैं वे बहुत लोकप्रिय हैं।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर हमारे हिन्दी-लेखकों को कहानियाँ लिखनी चाहिएँ।

———

रंगमंच

जिस प्रकार शिशु अपने दोनों हाथ फैलाकर चन्द्र-खिलौना माँगता है, असम्भव घटनाओं के अस्तित्व के लिए हठ करता है, उसी प्रकार नाट्यशाला में बैठी हुई जनता मंच से एक असम्भव सुख लूटना चाहती है, पात्रों से अनुचित और कठिन अभिनय माँगती है। इसमें सन्देह नहीं कि पात्रों का अभिनय जनता की रुचि के अनुसार होना चाहिए; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जनता की गिरी हुई आकांक्षाओं और साधारण रुचि के अनुसार ही पात्रों का अभिनय हो। पात्रों में कला की उत्कृष्टता हो सकती है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जनता उस उत्कृष्ट कला के रूप की उत्कृष्ट रूप से प्रशंसा अथवा सराहना कर सकेगी अथवा नहीं। जिस समय विविध विचारों में डूबी हुई, कला के रूप की विभिन्न कल्पनाएँ करती हुई, जनता नाट्यशाला में प्रवेश करती है, उस समय संचालकों को इस बात का डर सदैव ही बना रहता है कि उनका नाटक दर्शकों द्वारा प्रशंसित होगा अथवा नहीं। उस समय वे जनता की रुचि को पहचानना चाहते हैं। यदि उनकी कला दर्शकों को पसन्द आ गई तब तो उनकी सोने की थैली का वजन बढ़ जाता है अन्यथा धनव्यय करने पर भी उनके सिर गालियों का बोझ पड़ता है। ऐसी स्थिति में नाटककार और संचालक दर्शकों की रुचि के पीछे ऐसे दौड़ते हैं जैसे एक रंगीन तितली

के पीछे उत्सुक और भोले बालक। यदि उन्हें यह ज्ञान हो जाय कि जनता के हृदय की माँग क्या है तो नाट्यशालाओं की संख्या अमावस की रात के तारों की भाँति बढ़ जाय। लोग चाहते क्या हैं यही समझना तो कठिन प्रश्न है। रस्किन ने एक स्थान पर लिखा है कि जनता एक बच्चे के समान है। जिस प्रकार एक शिशु अपने विचारों के इन्द्रधनुष में विविध भावनाओं का रंग भरा करता है और कुछ क्षणों के बाद उसे मिटा देता है, उसी प्रकार जनता किसी समय एक प्रकार के विचारों में पूर्णरूप से संलग्न होकर उसी विचार को इन्द्रधनुष के समान मिटा देती है। जो चीज़ एक समय उसे प्रिय थी वही दूसरे समय उसे अप्रिय हो जाती है। ऐसी स्थिति में नाटक के संचालक बेचारे क्या करें! जो नाट्य-सामग्री एक बार दर्शकों के हृदय में विप्लव मचा चुकी थी वही सामग्री कुछ दिनों के बाद धूल में फेंक दी जाती है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम तो शिशु के समान जनता की अपरिमार्जित बुद्धि और द्वितीय जनता की धार्मिक प्रवृत्ति।

भारतीय नाटक का जन्म धर्म की गोद में हुआ था। उसी के सहारे नाटक में जीवन की शक्तियाँ आईं और उसी ने उसका अस्तित्व संसार में रहने दिया। ग्रीस के सुखान्त नाटक जिस प्रकार डायोनीसस की पूजा के रूप से प्रारम्भ हुए उसी प्रकार भारतीय नाटक का भी धर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। भारतीय नाटक और मंच की उत्पत्ति के विषय में ई० पी० हारविज़-रचित "दि इंडियन थियेटर" में लिखा है—

"एक बार सभी देवता मिलकर ब्रह्मा के पास गये और उन्होंने उनसे अपने मनोरञ्जन की सामग्री माँगी। ब्रह्मा ने ऋक् से नृत्य, साम से गान, यजुर् से अभिनय और अथर्व से भाव लेकर एक नाट्यवेद की रचना की। पहला रङ्गमञ्च बनाने के लिए विश्वकर्मा बुलाया गया और उसने इन्द्रभवन में एक विशाल मञ्च का निर्माण किया। उस मञ्च के ऊपर प्रथम बार इन्द्रध्वज त्यौहार के अवसर पर समवकार के रूप में अमृत-मन्थन का अभिनय किया गया, उसके बाद डिम के रूप में त्रिपुर-दाह का। नाटक में अपने पुत्र और शिष्यों के साथ भरतमुनि ने तथा गन्धर्व और अप्सराओं ने अभिनय किया था। राजा नहुष ने पहली बार पृथ्वी पर रङ्गमञ्च की स्थापना की थी और अभिनय कराने के लिए उन्होंने स्वर्गीय देवांग-नाओं, अप्सराओं और गन्धर्वों को पृथ्वी पर आने के लिए बाध्य किया था। यह बात कहाँ तक सत्य अथवा असत्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु हमारे पूर्व ग्रन्थों के इस वर्णन से ही तीन बातें निष्कर्ष के रूप में मिलती हैं:—

(१) नाटक के तत्त्व हमारे वेदों में वर्तमान थे।

(२) धार्मिक अवसर पर ही हमारे यहाँ नाटकों के अभि-नय हुआ करते थे।

(३) स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लिया करते थे; क्योंकि उस समय नाटक एक धार्मिक संस्था के रूप में माने जाते थे।

नाटक की इस परम्परागत कथा ने ही भारतीयों के हृदय में धर्म और नाटक का ऐसा एकीकरण कर दिया कि सारी

जनता के हृदय में नाटकों में धर्मतत्त्व देखने की उत्कंठा-सी उत्पन्न हो गई। यही कारण है कि पुराने नाटकों में धर्म का तत्त्व व्यापक रूप से पाया जाता है। जब भारतीयों के हृदय एक बार धर्ममय नाटकों में मिल गये, तब उनसे यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वे एक बार ही धर्म के वातावरण से निकलकर अन्य प्रकार के नाटकों की ओर अपनी आँख उठा सकेंगे। भारतीय जनता की यही रुचि जो इस धर्म और वर्तमान-कालीन सभ्यता की सर्वतोमुखी प्रवृत्ति के बीच में उलझी है—किसे ग्रहण करे और किसे त्यागे—वर्तमान मंच-संचालकों की असुविधा का कारण बन रही है।

जनता की धार्मिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने के पश्चात् उसकी अपरिमार्जित बुद्धि पर विचार कीजिये। हिन्दी में अच्छे नाटकों की संख्या प्रातःकालीन तारों की भाँति बहुत ही कम है। ऐसी स्थिति में जब कि जनता को यह अवसर ही नहीं दिया जाता कि वह अच्छे-अच्छे नाटकों को देखकर अपनी प्रवृत्तियों और भावनाओं को माँज सके, तब उससे परिमार्जित रुचि की आशा करना वैसा ही है जैसा किसी भूखी भिखारिणी से विविध व्यंजनों की स्वादोत्कृष्टता का पता पूछना। जब दर्शकमंडली नाटक के वास्तविक तत्त्वों को जानती ही नहीं तब, ऐसी स्थिति में, वह किस प्रकार अपनी रुचि को सुधार सकती है ?

अभी उस दिन प्रयाग के विश्वम्भर पैलेस में न्यू अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी आई थी। नाटक था 'गणेश-जन्म'। मैं भी एक आलोचक की हैसियत से वहाँ गया था। आदि से

अंत तक देख लेने पर मुझे ज्ञात हुआ कि संचालक अथवा नाटककार ने नाटक के आदर्शों को पाने की चेष्टा तो नहीं की, वरन् जनता की अपरिमार्जित रुचि में गुदगुदी पैदा करने की कोशिश की है। दृश्यों की जगमगाहट और पर्दों की "फटफटाहट" ही नाट्यशास्त्र का अंग बन गई थी। जनता के हृदय में कौतूहल-वर्द्धक भावनाओं को जागरित करने की विधियाँ जुटाई गई थीं। सती का सीता के रूप में अकस्मात् परिवर्तित हो जाना, शिव के काष्ठनिर्मित नन्दी का अपने पैरों पर खड़े हो जाना, मंच पर दक्ष-प्रजापति का सिर काटा जाना, कामदेव का पुष्पबाण से उजड़ी हुई प्रकृति में पीले और गुलाबी फूलों का अकस्मात् प्रादुर्भाव कर देना, मंच पर गणेश का सिर काटकर उनके शरीर में हाथी का सिर जोड़ देना आदि कितनी ही घटनाएँ दर्शकों के हृदय में आश्चर्य और कौतूहल उत्पन्न करने वाली थीं। कथानक का पता नहीं था कि वह किस कोने में पड़ा हुआ है। ऐसा ज्ञात होता था कि मंच किसी जादूगर की दुकान है जहाँ क्षण-क्षण में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहता है। कथावस्तु रास्ता भूलकर न जाने कहाँ पिछड़ गई थी, पर कौतूहल-वर्द्धक घटनाएँ एक-एक कर मंच पर आती जाती थीं, मानो नाटक के संचालक ने अपना 'कमाल' दिखलाने के लिए ही प्रयाग की सारी जनता को आमन्त्रित किया हो! बीच में सिनेमा का प्रयोग भी किया गया था और उसके अन्तिम दृश्य का जोड़ मंच के अभिनय से दिखलाया गया था। दर्शकों के हाथ रुक न सके। मुख के शब्दों के साथ-साथ हाथों ने भी तालियों

के शब्द से सराहना की। सारा पैलेस करतल-ध्वनि से गूँज गया। "स्प्लेंडिड", "सुपर्ब" "ऐक्सीलेंट" और "खूब-खूब" के शब्दों के शोर में तालियों का शोर मिल गया। नाटक के समाप्त होने पर मैंने दर्शकों से, जो पैलेस से हर्ष, प्रशंसा और उत्साह की मुद्रा से निकल रहे थे, पूछा—नाटक कैसा हुआ? सभी ने प्रशंसा से सिर हिलाकर कहा—"कमाल है!" यह थी जनता की रुचि!

डब्लू० ए० डारलिंगटन ने अंग्रेज़ी में एक किताब लिखी है। उनका नाम है—"लिटरेचर इन दि थियेटर" (Literature in the Theatre)। उसमें उन्होंने लिखा है कि नाटक के तीन तत्त्व हैं, कथावस्तु, शैली और चरित्र। उन नाटकों में जो जनता में आदृत हैं, कथावस्तु का तो अधिक विस्तार रहता है, पर दो पैसे के मूल्य का चरित्र और शैली का प्रायः अभाव रहता है। जो नाटक साहित्यिक नाटकों की श्रेणी में आता है और जो अभिनेताओं द्वारा 'रद्दी' कहा जाता है, उसमें शैली की उत्कृष्ट मात्रा रहती है, कुछ चरित्र-चित्रण और कथानक प्रायः शून्य-सा रहता है। आदर्श नाककों में ये बातें विस्तार से पाई जाती हैं। नाट्यशास्त्र का जो विद्यार्थी है, यदि वह मन लगाकर नाटकों का रङ्गमञ्च पर अध्ययन करे और यदि वह नाटकों के बाह्य और अन्तरतम रूप पर विचार करे, तो कुछ ही दिनों में उसे कथावस्तु में आनन्द नहीं आवेगा। नाटकों को अधिक संख्या में देखकर उसे कथानक की ओर से वैसे ही अरुचि हो जायगी जैसे कि एक बहुत मिठाई खानेवाले

को मिठाई खाने के पश्चात् मिठास से हो जाती है। उसका एक कारण है। अनेक नाटकों का कथानक आपस में मिलता-जुलता सा है। कहते हैं, संसार में केवल सात कथानकों का ही अस्तित्व है। भिन्न-भिन्न नाटक, कहानी और उपन्यास के कथानक उन्हीं सात कथानकों के रूप में यत्र-तत्र परिवर्तन कर बनाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है—सम्भव क्या, सत्य ही है कि अनेक नाटकों का कथानक एक-दूसरे से बहुत मिलता-जुलता हो। इसी सादृश्य के कारण नाट्य-शास्त्र के विद्यार्थी का ध्यान स्वभावतः पुनरुक्तिमय कथावस्तु की ओर से हटकर चरित्र-चित्रण की विभिन्नताओं अथवा शैली की रीतियों की ओर आकृष्ट होता है। यहाँ तक कि यदि नाटक में विशेष कथावस्तु न भी हो तो उसे इस बात की चिन्ता न होगी। वह तो नाटक की अधिक रोचक और विविध विचारों से युक्त शैली की ओर ध्यान देगा। इसलिए जनता, जिसे नाटक के कथा-सादृश्य का कम ज्ञान है, शैली और चरित्र की अपेक्षा कथावस्तु की ओर अधिक आकर्षित होगी। दूसरी ओर नाटकों का मनन करनेवाला विद्यार्थी, जिसे कथा-सादृश्य का ज्ञान है, कथावस्तु की ओर ध्यान ही न देगा। इसलिए जो नाटककार जनता की प्रशंसा चाहते हैं वे चरित्र-चित्रण और शैली की ओर कम ध्यान देकर कथावस्तु की ओर ही अधिक ध्यान दें। उनके नाटकों में उपन्यासों के समान कहानियाँ हों। दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उनके पास काफी "मसाला" हो, तभी वे जनता की प्रशंसा के पात्र बन सकते

हैं, अन्यथा नहीं।

डारलिंगटन के इस मत से मैं पूर्णरूप से सहमत इसलिए नहीं हूँ कि वह पाश्चात्य जनता अथवा दर्शकों की रुचि देख रहा है और मैं पूर्वीय जनता की रुचि पर ध्यान दे रहा हूँ। मैं यह मानता हूँ कि दर्शकों को, जो समान रूप से नाटक के तत्त्वों को नहीं जानते, चरित्र-चित्रण और शैली पसन्द नहीं, किन्तु केवल कथावस्तु या कहानी ही भारतीय दर्शकवृन्दों का मनोरञ्जन नहीं कर सकती। पाठकों की बात दूसरी है। वे एक कोने में बैठकर अपने ही ध्यान के संसार में पात्रों की कल्पना करके कथावस्तु का आनन्द लूट सकते हैं, पर दर्शकों के साथ बात ही दूसरी हो जाती है। रुचि परिष्कृत न होने के कारण वे कुछ तमाशा देखना चाहते हैं। अतएव कहानी के साथ ही यदि आश्चर्य-जनक घटनाओं का भी समावेश हो—चरित्र की बहुरङ्गी रूप-रेखा हो—तो दर्शकों की कौतूहलता और प्रसन्नता दुगुनी बढ़ जायगी और उनके मुख से 'वाह-वाह' की ध्वनियाँ अवश्य निकल आयेंगी। इसलिए कुतूहलवर्द्धक घटनाओं का और पात्रों की अनेकता का अस्तित्व कहानी के साथ-साथ जरूरी है। तभी नाटककार को प्रशंसा का पुरस्कार मिल सकता है। केवल कहानी द्वारा ही दर्शक-हृदय नहीं समझाया या बहलाया जा सकता।

रंगमंच की जनता के विषय को छोड़कर अब रंगमंच की विवेचना करना आवश्यक है। नाटकों का सार्थक अस्तित्व मैं रंगमंच के सम्बन्ध से ही समझता हूँ। पूर्वकाल में भी, जब

नाटक अपने शिशुपन में था, नाच और वार्तालाप नाटक के अनिवार्य सहायक थे। सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में नाटकों की सूचना पात्रगण नाटक के वस्त्र पहनकर घूम-घूम कर दिया करते थे। नाटक और अभिनय ये दो ऐसी वस्तुएँ हैं जो एक दूसरे से अलग नहीं की जा सकतीं। मेरे विचार से किसी भी भाँति नाटकों की उत्कृष्टता का निर्णय बिना मंच के सम्पर्क के नहीं हो सकता। यदि नाटक प्राण है तो मंच उसका शरीर। जो नाटक मंच पर खेले जाने पर अपना बहुत सा सौन्दर्य खो देते हैं वे चाहे साहित्य की दृष्टि से कितने ही अच्छे क्यों न लिखे गये हों, पर अच्छे नाटकों की श्रेणी में रखने के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। रंगशाला में नाटक का महत्त्व मंच पर खेले जाने पर है, साहित्यिक ख्याति से नहीं। वहाँ नाटक प्रथमतः अभिनय करने की वस्तु है, फिर साहित्य की उज्ज्वल रत्नराशि। यह एकान्त सत्य है, पर इसका रूप रंगशाला के महारथियों ने बहुत विकृत कर दिया है। वे समझते हैं कि रंगमंच का अभिनय एक बात है और साहित्य दूसरी। नाट्य-मंच पर अभिनय होनेवाली चीज़ साहित्य हो ही नहीं सकती। बात यह है कि नाटक वस्तुतः कथोपकथन में ही लिखे जाते हैं और इसलिए साधारण बोलचाल की ही भाषा उनमें प्रयुक्त होती है। साधारण बोलचाल की भाषा जो साधारण जनता में प्रचलित है, साहित्य का स्वरूप कभी ग्रहण नहीं कर सकती। उस बोलचाल का नग्न संग्रह साहित्य नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जब नाटक के पात्र साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने

लगते हैं तो वे जीवन की साधारण भाषा से बहुत दूर पड़ जाते हैं और उनके शब्द और वाक्य उपहासास्पद और अ-नाटकीय हो जाते हैं। अतएव यह निश्चय है कि जो वस्तु मंच पर कही जाती है वह साहित्य नहीं और जो साहित्य मंच पर लाया जाता है वह नाटकीय नहीं है। अतः स्पष्ट है कि नाट्यवस्तु और साहित्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। वे कहते हैं कि नाटक बोलने और अभिनय करने की वस्तु है और साहित्य पढ़ने तथा मनन करने की। कला के दो रूप एक दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं।

लगभग चौदह वर्ष हुए मिस्टर ई० सी० मोंटेग्यू ने इसकी बड़ी खोज की थी। अन्त में उनके कथन का तात्पर्य यही था कि नाटक जितने ही अधिक साहित्यिक होंगे उतने ही अधिक वे रंग-मंच के अयोग्य और जितने ही अधिक वे रंगमंच के योग्य उतने ही अधिक वे अ-साहित्यिक होंगे। यही सिद्धान्त अमेरिका के एक प्रसिद्ध अभिनेता मिस्टर जेम्स के० हैकेट ने प्रदर्शित किया है। उन्होंने मिस्टर डारलिंगटन को एक पत्र में लिखा है—

"....अभिनीत होनेवाले (असाहित्यिक) और अभिनीत न होने वाले (साहित्यिक) नाटक के विषय में जो विचार हैं वे एकान्त सत्य हैं और अनुभवी मनुष्य उनमें शंका न करेगा। मैं अपने कालेज के दिनों की घटना का ज़िक्र करता हूँ जब मैं वक्तृता का पदक लेने की कोशिश कर रहा था। वक्तृता देने वालों के लिए यह आवश्यक था कि वे प्रथम वक्तृता लिखकर अंग्रेज़ी

विभाग में उसकी प्रति दे दें। कुछ सप्ताह के बाद मुझे प्रोफेसर साहब ने बुलाया और भर्त्सना-पूर्ण शब्दों में कहा—'मिस्टर हैकेट, मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी। तुमने तो ऐसा खराब लिखा है कि उसे दुबारा पढ़ने की तबीयत ही नहीं होती। यह फेंक देने लायक चीज़ है। यदि तुम्हारा निर्णायक मैं होता तो तुम्हें शून्य देता।'

मैंने उत्तर दिया—'प्रोफेसर साहब, यह वक्तृता कहने या सुनने की वस्तु है; सोचने-समझने या अध्ययन करने की सामग्री नहीं; वक्तृता और साहित्य ये दोनों भिन्न-भिन्न विषय हैं। एक के द्वारा हम श्रवण-शक्ति को उत्तेजित करते हैं, दूसरे से मनन और अध्ययन शक्ति को।'

इसी प्रकार नाटक और साहित्य में अन्तर है। नाटक खेलने और बोलने की वस्तु है, साहित्य मनन करने की। न तो नाटक साहित्य हो सकता है और न साहित्य नाटक ही। नाटककार यही तो भूल करते हैं कि वे नाटक को प्रकाशित कराके साहित्य के समान पढ़ने और अध्ययन करने की वस्तु बना देते हैं"। पर वास्तव में सत्य इससे दूर है।

हिन्दी में राधेश्यामजी के नाटक पूर्ववत् इसी मत की पुष्टि करते हैं। उनके नाटकों से भी एक ही स्वर निकलता है रंगमंच के नाटकों का साहित्य से कोई सरोकार नहीं। राधेश्याम-रचित "मशरिक़ी हूर" का चौथा सीन इसी मत का प्रतिपादक है।

"मुकाम जंगल"

(कमाल और जमाल आते हैं)

कमाल—अमाँ जमाल !

जमाल—हाँ मियाँ कमाल !

कमाल—यह हमीदा तो रोज़-ब-रोज़ आगे बढ़ती जाती है।

जमाल—हाँ, बिला मूछोंवाली मूँछोंवालों को बात-बात में झिपाती है।

कमाल—यह न होती तो मैं अब तक रुस्तम कहलाया होता।

जमाल—और मैंने सुहराब का खिताब पाया होता।

कमाल—जमाल, वाकई तुम जमाल हो।

जमाल—और कमाल, तुम भी कमाल हो !

... ...

मिस्टर हैकेट और वर्तमान थियेट्रिकल कंपनी के नाटककारों से मैं इस बात में सहमत नहीं हूँ। यह सत्य है कि बोलने और सुनने की वस्तु में पढ़ने या लिखने की वस्तु से कुछ विशेषता अवश्य होनी चाहिए, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह बोलने और सुनने की वस्तु न हो। कुछ वर्ष हुए सर जगदीश-चन्द्र बोस ने इलाहाबाद-यूनीवर्सिटी का 'कन्वोकेशन एड्रेस' पढ़ा था। वक्तृता के अतिरिक्त वह मनन करने की वस्तु भी थी। इसी प्रकार नाटक अभिनय के उपयुक्त होते हुए भी साहित्यिक हो सकता है। रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी नाटक में साहित्य का सौन्दर्य पाया जा सकता है। श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी रचित कृष्णार्जुन युद्ध में मञ्च और साहित्य का मिलाप देखिये—

द्वितीय दृश्य

स्थान—गंगा-तट

(एक गंधर्व अपनी स्त्री और उसकी सखी-सहित विमान

द्वारा उतरता है। कपड़े उतार सब गंगा में तैरते हैं)

गंधर्व—(तैरते हुए) प्रिये चित्रांगि, तुम्हारे कोमलांगों के स्पर्श से मृदुता का पाठ सीख ये लहरियाँ धीरे-धीरे पास आती हैं—मानो सशंकभाव से यह पूछने के लिए कि हममें वह कोमलता आई है या नहीं !

सखी—प्रिय सखि चित्रांगि, चित्रसेन महाराज ठीक तो कहते हैं। इन तरंगों में कहीं-कहीं छोटे-छोटे गड्ढे भी हैं। कह सकती हूँ कि यह तुम्हारे कपोल-भंग का अनुकरण है।

चित्रसेन—चंचल मछलियाँ आँखों का अनुहार करती हैं, सिवार इन लहराते केशों का और भँवरे इनकी गुनगुनाहट का।

चित्रांगी—बस, महाराज।

सखी—और—

चित्रांगी—(कुछ क्रोध प्रकट कर) क्यों प्रेमलता, चुप न रहेगी !

प्रेमलता—सखि, मैं कहने वाली थी कि गंगा में मेरी सखी के स्वरूप का सभी सामान है, किन्तु मैं अब यही कहूँगी—गंगा ! तेरा प्रयत्न व्यर्थ है। मुसकराते हुए वदन पर क्रोध-भरी भौंहों का योग तू किस प्रकार साधेगी ?

चित्रांगी—गंगा बेचारी क्या योग साधेगी, किन्तु इस समय तुम दोनों का योग खूब सधा है !

प्रेमलता—सखी चिढ़ो ना, तुम हमारे हृदय की प्रशंसा नहीं करतीं कि हम दोनों तुम्हारे स्वरूप को संसार की प्रत्येक वस्तु में देखते हैं।

चित्रसेन—ठीक कहा सखी, किन्तु पूर्णतया नहीं। यह नदी चंचल है, मेरी प्रिया नहीं।

प्रेमलता—सखी का मन तो चंचल है।

चित्रांगी—हाँ हाँ, चंचल है; किन्तु तुझसे कम।

चित्रसेन—प्रिये, चलो उस पोखर में से कमलों को तोड़ लावें।

(सब एक ओर तैरते हुए जाते हैं और दूसरी ओर से ऋषि...)"

संस्कृति के वातावरण में सभ्यगण इससे भी परिष्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक बोलचाल से यह भाषा किसी भाँति भी भिन्न नहीं कही जा सकती। मञ्च-रक्षा और साहित्य-सौन्दर्य की यह गंगा-यमुना हिन्दी में नाटकों का आदर्श स्वरूप रख सकती है।

नाटक को साहित्य से भिन्न स्थान देने के लिए मञ्चवालों का दूसरा विरोध यह है कि नाटक का कोई अवतरण साहित्यिक दृष्टि से चाहे जितना ही सुन्दर और मनोहर क्यों न हो, पर मञ्च के अनुसार परीक्षा लेने पर ज्ञात हो जायगा कि उसमें नाटकीय तत्त्व बिलकुल नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि अमुक अवतरण काव्य दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है, किन्तु वह कार्य-व्यापार को आगे बढ़ाने में कितनी सहायता देता है! ऐसे अवतरण केवल साहित्य के लिए मणि हैं, पर मंच के लिए निरर्थक काँच के टुकड़े। इसीलिए साहित्यिक नाटक मञ्च से बहुत दूर जा गिरते हैं। उदाहरणार्थ बाबू जयशंकर प्रसाद का "जनमेजय का नागयज्ञ" नाटक लीजिये—

दूसरा अंक

पहला दृश्य

[एक ओर से जनमेजय का प्रवेश । दोनों (आस्तीक और मणिमाला) को देख कर जनमेजय आड़ में खड़ा हो जाता है]

जनमेजय—(स्वगत) मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास, वा उसी की क्रीड़ा का उपकरण । फिर क्यों वह अपने आप को कुछ समझता है और प्रकृति को खिलवाड़ मानता है ? आज इस आश्रम के महर्षि से इसका रहस्य जानना चाहिये । अहा ! कैसा पवित्र स्थान है ! और यह देव-द्वन्द्व भी कैसा मनोहर है !

(नेपथ्य में संगीत)

जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यों इसमें सुख पाता है ?
मानव, तूने कुछ सोचा है, क्यों आता, क्यों जाता है ?
आद्य अविद्या कर्म हुआ क्यों, जीव स्व-वश तब कैसे था ?
महाशून्य के पट में पहला चित्रकार क्यों आता है ?
शुद्ध नाद था बड़ा सुरीला, कोई विकृति न थी उसमें ।
कौन कल्पना करके उसमें मींड़ लगाकर गाता है ?
कल्प-कल्प की भ्रांति दुःख की क्षण भर का सुख भला लगा ।
असि-धारा पर धरा हुआ सुख उससे कैसा नाता है ?
दुख ने क्या दुख दिया तुझे कुछ इसका कभी विचार किया ?
चौंक उठा तू झूठे दुख पर, कुछ भी तुझे न आता है !!
कारण कर्म न भिन्न कहीं हैं, कर्म ! कर्म चेतनता है ।
खेल खेलने आया है तू, फिर क्यों रोने जाता है ?

इस जीवन को भिन्न मानकर क्षण-क्षण का विभाग करता।
लीला से तू दुखी बन गया लीला से सुख पाता है!!
तू स्वामी है, तू केवल है स्वच्छ, सदा तू निर्मल है।
जो कुछ आवे, करते चल तू, कहीं न आता जाता है॥

इन अवतरणों के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया जाता है, वह यह है कि क्या ये कार्य-व्यापार को बढ़ाने में सहायता देते हैं ? उसका उत्तर मैं निर्भीकता से देता हूँ 'हाँ'। नाटकीय कार्य-व्यापार की बड़ी सहायता करते हैं; और वह सहायता इस प्रकार दी जाती है।

प्रत्येक मञ्च का कार्यकर्ता इस बात से सहमत है कि नाटक में सौन्दर्य और सजावट का रहना अनिवार्य है। वह सौन्दर्य या तो बाह्य हो या आन्तरिक। भाँति-भाँति के रंग-बिरंगे कपड़े तरह-तरह के दृश्यमय पर्दे, प्रकाश आदि सभी बाह्य सौन्दर्य की वस्तुएँ हैं। इनका रहना वर्तमान रङ्गमञ्च में अनिवार्य-सा है। क्या मञ्च-महाशय उत्तर दे सकते हैं कि अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण, परदे और प्रकाश नाटकीय कथा के कौन से भाग हैं ? यदि वे नाटकीय कथा के भाग नहीं हैं, अथवा नाटकीय कार्यव्यापार को आगे नहीं बढ़ाते तो नाटक में उनका अस्तित्व क्यों है ? मैं इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दे सकता हूँ कि उपर्युक्त वस्तुएँ यद्यपि नाटकीय कथा-वस्तु में कोई स्थान नहीं रखतीं, तथापि वे दो कार्य करती हैं, जिनसे उनका मञ्च पर रहना सार्थक और आवश्यक हो जाता है। प्रथम तो वे दर्शकों की सौन्दर्योपासक भावना की

तृप्ति करती हैं और दूसरे कथानक के वातावरण की सृष्टि। परदों के बिना दर्शकों को अपनी कल्पना-शक्ति पर बहुत ज़ोर देना पड़ेगा और अनुमान से तत्कालीन दृश्य को अप्रत्यक्ष रूप से देखना होगा। दूसरे उनको कहीं-कहीं नाटक नीरस-सा प्रतीत होगा। दर्शक-गण बिना बाह्य सौन्दर्य्य के नाटक के रूप को उसी प्रकार कठिनता से देख सकेंगे, जिस प्रकार मलेरिया का रोगी कड़वी कुनीन को बड़ी कठिनता से खा सकेगा। ठीक बाह्य सौन्दर्य्य की भाँति सुन्दर साहित्यिक अवतरण नाटक का आन्तरिक सौन्दर्य है। साहित्यिक अवतरण भी जनता की सौंदर्योपासक भावना की तृप्ति करते हैं और साथ-साथ कथानक के वातावरण का निर्माण भी। "जनमेजय का नागयज्ञ" नाटक में नेपथ्य के संगीत ने शान्त और वैराग्य के वातावरण की कितनी सुन्दर सृष्टि की है!

दूसरी ओर से साहित्यिक नाटककारों की ध्वनि सुनाई देती है। वे कहते हैं—नाटककार को दर्शकों से क्या मतलब? वह मंच के चौखटे में अपने नाटक का चित्र क्यों कस दे? उसे तो कला-रूप से नाटक की रचना और उसी की उत्कृष्टता से काम है, दर्शकों और मञ्च का विषय तो मञ्च-सञ्चालक का है। सच्चे कलाकार का दर्शकों से क्या सम्बन्ध? उस नाटककार को जो सच्ची कला के रूप की अवतारणा करता है, इन साधारण झंझटों से क्या सरोकार? उसके उत्कृष्ट आदर्श के सामने दर्शक-वृन्दों और मञ्च का मामला रखना उसे स्वर्ग से खींचकर नरक में गिराना है! आत्म-प्रदर्शन के लिए ही उसकी कला

है। वह तो "स्वान्तः सुखाय" लिखता है। उसे क्या पड़ी है जो वह दर्शकों को—चाहे वे अच्छे हों, या बुरे हों—रिझाने के लिए बैठे ? इस प्रश्न का उत्तर विलियम आर्थर ने अपनी 'प्ले-मेकिंग' (Play Making) पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह से दिया है। वे लिखते हैं, जो कलाकार इसी तरह सोचना पसन्द करते हैं उनसे मुझे कुछ नहीं कहना है। उन्हें पूरा अधिकार है कि जिस प्रकार अपने नाटकों में (जो शायद नाटक कहे जा सकते हैं !) अध्ययन या अभिनय के द्वारा आत्म-प्रदर्शन करें। किन्तु जो नाटककार वास्तव में आत्म-प्रदर्शन करना चाहता है उसे मञ्च की सहायता लेनी पड़ेगी। एक चित्रकार चाहे "स्वान्तः सुखाय" सुन्दर चित्र खींचे, मूर्ति-कार मूर्ति बनाये, गायनाचार्य गीत गाये, किन्तु नाटककार बिना मञ्च के आत्म-प्रदर्शन कर ही नहीं सकता। बिना मञ्च के अस्तित्व के नाटक के कुछ मानी नहीं होते। वह जीवन का ऐसा प्रदर्शन है जो मञ्च के वातावरण में ही हो सकता है, अन्य स्थान पर नहीं। इसी लिए तो उपन्यास और नाटक में बड़ी भिन्नता है। एक का दिग्दर्शन हृदय पर होता है, दूसरे का मञ्च पर।

अतएव अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि रङ्गमञ्च और साहित्य से युद्ध नहीं, वरन् शुद्ध सन्धि है। हमारे हिन्दी नाटककारों को मञ्च की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही नाटक लिखना चाहिए। मञ्च की अवहेलना कर निरे साहित्यिक नाटकों से हिन्दी का नाट्य-क्षेत्र गौरवान्वित नहीं हो सकता।

वर्तमान हिन्दी-नाटकों का समूह दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रकार के नाटक हैं जिनमें केवल रंगमंच का ध्यान रक्खा जाता है। उनमें दर्शकों के कौतूहल-वर्द्धन की सामग्री रहती है। उनमें वास्तविक जीवन का चित्रण नहीं के बराबर रहता है और साहित्य के अस्तित्व का तो पता भी नहीं चलता। ऐसे नाटक उपन्यास-बहार आफिस से बहुत प्रकाशित हुए हैं। राधेश्याम जी के भी बहुत से नाटक इसी ढंग के हैं। उनमें मंच की सुविधा का तो यथोचित ध्यान है, परन्तु जीवन की प्रतिकृति का सर्वथा अभाव है।

दूसरे प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें केवल साहित्य की लड़ियाँ सजाई जाती हैं। ऐसे नाटक की रचना इस प्रकार की जाती है, मानो उसके सभी दर्शक दार्शनिक अथवा कवि हैं। यद्यपि उसमें जीवन का चित्र, मानवीय भावनाओं का स्पष्टीकरण एवं मनोविज्ञान की स्पष्ट मूर्ति रहती है; पर उनमें मंच की साधारण से साधारण सुविधा की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। मंच की अवहेलना करने पर उच्चकोटि का साहित्यिक नाटक भी वास्तव में आदर्श नाटक नहीं कहा जा सकता। इसी श्रेणी में बाबू जयशङ्कर प्रसाद के कुछ नाटक हैं—प्रेमचन्दजी के भी दो नाटक (संग्राम और कर्बला) हैं।

हमें हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि करनी है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति होते हुए भी रंगमंच में सुविधानुसार पूरे उतर आयें। उनमें साहित्य की व्यंजना भी यथेष्ट हो और रंगमंच की आवश्यकताओं की सामग्री भी पूर्ण रीति से हो।

जिस समय हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि होगी उस समय हमारा हिन्दी नाट्य-शास्त्र अन्य साहित्यों के अच्छे नाटकों से समानता कर सकेगा। इस समय बाबू जयशंकरप्रसाद जी के नाटकों की प्रवृत्ति इस आदर्श स्थिति की ओर है।

नाटकों के अभिनय का समय अधिक से अधिक दो-तीन घंटों तक ही परिमित रहना चाहिए। चीन के नाटकों की बात छोड़ दीजिये, जहाँ एक नाटक में सोलह अंक होते हैं और प्रत्येक अंक एक घंटे में समाप्त होता है। (शायद अफीम का ही यह परिणाम हो! पर हमें तो तीन घंटे से अधिक समय किसी अभिनय को देना ही नहीं चाहिए। हम एक स्थिति में एक बार सुविधानुसार तीन घंटे से अधिक बैठे भी नहीं रह सकते और न तीन घंटे से अधिक एक ही वस्तु को अपना ध्यान समेटे हुए देख ही सकते हैं। ऐसी स्थिति में हमें अधिक समय (जिससे शरीर और मन को असुविधा हो) मनोरंजन में नहीं देना चाहिये। यदि कोई नाटककार यह कहे कि मैं दो तीन घंटे के भीतर अपने हृदय की सारी भावनाएँ दर्शकों के सामने नहीं रख सकता, तो वह नाटककार नहीं है। विलियम आर्थर का कहना है कि जो नाटककार दर्शकों अथवा मंच की अवहेलना करता है वह केवल अपना सम्मान और लाभ ही नहीं खोता, वरन् अपनी रचना के कलारूप को भी खो देता है। हिन्दी में ऐसे कई नाटक हैं जिनकी पृष्ठ-संख्या दो सौ से ऊपर है। ऐसे नाटक तीन घंटे में नहीं खेले जा सकते। उन्हें तीन घंटे में लाने के लिए कतर-ब्योंत की ज़रूरत पड़ेगी। ऐसी

स्थिति में यह संभव है कि नाटक का साहित्यिक सौन्दर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाय। इसलिए इस 'कतर-ब्योंत' से बचने के लिए पहले ही से ऐसा नाटक क्यों न लिखा जाय, जिसमें नाटककार के मुख्य और सुन्दर भावों का प्रदर्शन १२५ पृष्ठों से अधिक न हो।

हिन्दी नाटकों में संकेत शब्द बहुत ही कम लिखे जाते हैं। नाटककारों में यह रुचि नहीं है कि वे मञ्च पर अपने विचारानुसार अभिनय करायें। वे तो अपने कार्य की इतिश्री वहीं समझते हैं जहाँ पात्रों के कथोपकथन में अपने हृदय की सारी भावनाओं को भर दिया जाय। इसके बाद वे नाटक से ऐसा हाथ सिकोड़ लेते हैं, मानो उनका उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं। पाश्चात्य नाटकों में नाटककार अपनी इच्छा की चीज़ें मञ्च पर उपस्थित करवा लेते हैं। वहाँ मञ्च-संचालक को उनकी आज्ञा में रहना पड़ता है। नाटककार अपने अंक के समयानुकूल जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता मञ्च पर समझते हैं उन सब चीज़ों का निर्देश कर देते हैं। वे सारी चीज़ें मञ्चकर्ता को मञ्च पर उपस्थित करनी पड़ती हैं। पाश्चात्य नाटककार संकेत लिखने में पटु भी बहुत होते हैं। ब्यूला मेरी डिक्स ने अंगरेज़ी में एक एकांकी नाटक लिखा है। उसका नाम है—एलीसन्स लैड (Allison's Lad)। उसका संकेत-चित्रण देखिये—

ALLISON'S LAD

SCENE—The village of Faringford in the western midlands of England.

PERIOD:—The close of the Second Civil war, autumn 1648.

It is midnight of a cheerless autumn day, with a drizzle of slow rain. In an upper chamber of the vilage inn of Faringford, lit by guttering candles and a low fire that smoulders on the hearth, are gathered five gentlemen of the Cavalier Party, made prisoners that morning in a disastrous skirmish.

In a great arm-chair by the hearth. at stage left, sits their leader, SIR WILLIAM STRICKLAND. He is a tall, keen man of middle age of the finest type of his party, gallant officer and a high souled gentleman. He has recived a dangerous wound in the side, which has been but hastily dressed and he now leans heavily in his chair. with eyes closed, almost oblivious of what goes on about him.

His captain, and friend of long standing, GEORGE BOWYER a sanguine, stalwart gentleman of STRICKLAND'S own years, has planted himself in the centre of the room, where he is philosophically smoking at a log pipe, while

he watches the play at the rude table, which stands at the stage right.

Round the table, on rough stools, GORING, HOPTON and WINOOD sit dicing and smoking, with a jug of ale between them for the cheering of their captivity. GORING is a swaggering young soldier of fortune; HOPTON, a gentleman of the Temple. turned soldier, with something of the city fop still to be traced in his bearing. He has been wounded, and bears about his forehead a blood-flecked bandage. WINWOOD, the third gamester, is a mere lad of seventeen, smooth-faced, comely, with a gallant carriage.

It is to be noted that the men play but half-heartedly. Indeed, the cheerlessness of the hour, in the dim chamber with the rain tapping on the mullioned windows, may bring home to them the dubiousness of their captive state and set them to anxious question of what the dawn may have in store. GORING of the three the most hardened and professionally a soldier, is the first to speak as he throws the dice.

एलीसन का लड़का

दृश्य—इंगलैंड की पश्चिमीय मध्यभूमि में फेरिंगफोर्ड गाँव।

काल—द्वितीय सिविल वार का अन्त; सन् १६४८ का शरत्काल।

हेमन्त की नीरस अर्द्धरात्रि, रिमझिम पानी बरस रहा है, फेरिंगफोर्ड की सराय के ऊपरी कमरे में, जो धुँधले प्रकाश और अग्निकुंड (चूल्हे) की धीमी आँच से प्रकाशित है, केवेलियर पार्टी के पाँच सज्जन बैठे हैं। वे प्रातःकाल की भयावह लड़ाई में कैदी बना लिये गये हैं।

अग्निकुंड के निकट एक हाथदार कुर्सी पर मञ्च की बाँईं ओर उनका नेता सर विलियम स्ट्रिकलैंड बैठा है। वह ऊँचा, मध्यावस्था का उत्साही मनुष्य है और अपने दल का उत्कृष्ट नमूना है। वह साहसी अफसर और उत्कृष्ट भावनाओं से युक्त सज्जन है। बगल में एक बहुत भयानक घाव है जो जल्दी से बाँध दिया गया है। वह अपनी आँखें बन्द कर भारीपन से अपनी कुर्सी पर लेट गया है। उसे पता ही नहीं कि उसके आसपास क्या हो रहा है।

उसका कप्तान और पुराना मित्र जार्ज बोयर अनुरागी और प्रचंड प्रकृति का मनुष्य है। उसकी आयु स्ट्रिकलैंड की ही आयु के बराबर है। वह कमरे के बीचोंबीच बैठा है, जहाँ एक भद्दी सी टेबल पर, जो मंच के दाहिनी ओर है, खेल देखता हुआ गंभीर भाव से एक बड़ा लंबा चुरट पी रहा है।

टेबिल के चारों ओर भद्दे स्टूलों पर गोरिंग हाप्टन और विनवुड बैठे हुए पाँसे खेल रहे हैं। वे तमाखू पी रहे हैं। उनके कैदीपन में प्रसन्नता लाने के लिए उनके बीच में शराब का एक सागर रक्खा

हुआ है। गोरिंग भाग्यवान, आत्मश्लाघी युवक सिपाही है। हाष्टन टेंपल का एक सज्जन है जो सिपाही बन गया है। उसके हाव-भाव में अभी तक गुंडापन नज़र आता है। वह घायल है और उसके माथे में खून से रँगी पट्टी बँधी है। तीसरा खेलने वाला विनवुड १७ वर्ष का लड़का है। चिकना चेहरा, सुन्दर और वीरोचित चाल है।

यह ध्यान देने योग्य है कि वे लोग अनमने मन से खेल रहे हैं। वस्तुतः काली कोठरी में, आधी रात की भयानकता, पत्थर की खिड़की पर पानी की टपटपाहट, उनके सामने उनके कैदीपन की सन्दिग्धता ला दे और उन्हें इस विचित्र प्रश्न की ओर लगा दे कि प्रातःकाल उनका क्या होगा। गोरिंग, जो तीनों में बहुत मज़बूत और सिपाही है, पाँसा खेलने के साथ पहले बोलता है।

इस संकेत-चित्रण में नाटककार ने वे सब बातें लिख दी हैं जो वह अपने अभिनय के लिए चाहता है, यहाँ तक कि पात्रों की आयु भी लिख दी है। अब संचालक का कर्तव्य है कि वह उल्लिखित आयु के ही पात्र चुने और जो जो वस्तुएँ नाटककार ने लिख दी हैं वे सब मंच पर इकट्ठी करे। जब नाटककार अपना नाटक मंच के लिए देता है तो उसे अधिकार है कि जो वातावरण या स्थिति वह चाहता है उन्हें मंच पर लाने की आज्ञा दे, किन्तु हिन्दी नाटककार कदाचित् बहुत संकोची हैं। वे मंचकर्ता को कष्ट नहीं देना चाहते। वे अपना नाटक रंगमंच में अभिनय करने के लिए दे देने पर बिलकुल फुरसत पा जाते हैं। वे नाटक के विकास अथवा कला-रूप में तो पाश्चात्य नाटकों का अनुकरण करते हैं पर संकेत-लेखन में कदाचित् झेंप जाते हैं। वे बेचारे

मानो मंच-कर्ता के हाथों में अपने को और अपने नाटक को सौंपते हुए कहते हैं—'भाई तुम्हें जैसा अच्छा लगे, वैसा ही कर लो।' कैसा नम्र वाक्य उनके मुख से निकलता है! यदि मैनेजर अच्छा हुआ तो उसने नाटक सम्हाल लिया और यदि नाटककार के दुर्भाग्य से खराब हुआ तो नाटक की असफलता का सारा दोष बेचारे नाटककार के सिर पर पड़ता है। इतने पर भी नाटककार चुपचाप रह कर संकेत-भाषा इस तरह लिखेंगे—

(क) स्थान—तपोवन

[आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश]

—जनमेजय का नागयज्ञ

(ख) स्थान—मार्ग

(वीणापाणि मुनि का प्रवेश)

—कृष्णार्जुन युद्ध

(ग) स्थान—नगर के पास का भाग

(अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित अपने दो बच्चों के साथ सुमति का प्रवेश)

—दुर्गावती

(घ) वलीद का दरबार, वलीद और मेर्वान बैठे हुए हैं। रात का समय—

—कर्बला

हमारे हिन्दी नाटकों में भी संकेत-भाषा का उचित प्रयोग होना चाहिए; और साथ ही नाटककारों में अपने नाटक को अपनी रुचि के अनुसार अभिनीत कराने की आकांक्षा उत्पन्न होनी चाहिए।

अब मैं हिन्दी-नाटकों के 'स्वगत-कथन' पर विचार करना चाहता हूँ। हिन्दी नाटकों में यह 'स्वगत-कथन' का रोग बहुत पुराना है। न जाने कितने वर्षों से यह हिन्दी नाटकों में जोंक के समान आकर चिपट गया है। पाश्चात्य नाटकशाला में भी हम यही बात पाते हैं। शेक्सपियर के नाटकों में 'स्वगत-कथन' की विशेष मात्रा है। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में शेक्सपियर ने जो ट्वेलफ्थ नाइट (Twelfth Night) नाम का एक नाटक लिखा है, उसमें भी स्वगत-कथन पाया जाता है। प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य के अन्त में वायोला ड्यूक से कहती है—

Violo—I'll do my best.

TO woo your lady:—(Aside) yet, a barful Strife ?

Whoe'er I woo, myself would be his wife.

वायोला—मैं तुम्हारी प्रियतमा को अनुरक्त करने की पूरी चेष्टा करूँगी (अलग) आह, कैसा संघर्ष है—जिसके लिए मैं प्यार करूँ, उसी की स्त्री तो होना चाहती हूँ।

इसी प्रकार तृतीय अंक के चतुर्थ दृश्य में वायोला फिर स्वगत कहती है—

Violo—(Aside)—Pray God defend me ! A little thing, would make me tell them how much I lack of a man.

वायोला—(अलग)—ईश्वर मेरी रक्षा कर! थोड़ी सी बात ही मुझे यह बतलाने के लिए बाध्य करेगी कि मैं पुरुषत्व से कितनी

हीन हूँ।

जो हो, स्वगत-कथन हिन्दी-नाटकों की पैतृक सम्पत्ति रहने पर भी अब काम की चीज़ नहीं है। यह नितान्त अस्वाभाविक है कि कोई व्यक्ति अपने आप ही बोलता हुआ चला जाय। न उसके साथ आदमी है न वह स्वयं आदमियों के साथ है, किन्तु वह जो मन में आता है बोलता चला जाता है। ऐसी स्थिति में या तो हम उसे पागल कहेंगे या शराबी या अफीमची। स्वगत-कथन तो विचारों का प्रकाश रूप है। पर स्वाभाविकता के लिए इसे दूर ही करना होगा। करुणा या क्रोध में एक आध वाक्य भले स्वगत-रूप में हो पर उससे पृष्ठ के पृष्ठ नहीं रँगे जा सकते।

बाबू जयशंकरप्रसाद-रचित "जनमेजय का नागयज्ञ" नाटक के प्रथम अंक के पाँचवें दृश्य में तक्षक आता है। अब उसका स्वगत-कथन सुनिए—

"तक्षक—प्रतिहिंसे ! तू क्यों हृदय को जला रही है ! मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी काँप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस कंकाल में धधक उठती है ! तू बलि चाहती है तो ले मैं दूँगा। छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार, सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी। रक्त-रंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन शवगंध-पूरित धूम से भरकर तेरी धूपदानी बनेगा। तक्षक पुजारी होगा—कंटकासन पर बैठ कर तेरी उपासना करेगा। ठहर, देवी

ठहर !

(खड्ग निकालता है)"

इसमें अकेले ही बोलने वाले की उपहासावस्था हँसाये बिना नहीं रहती। प्रसादजी की श्रीलेखनी से हम यह आशा नहीं रखते।

स्वगत-कथन का एक दूसरा प्रकार भी है। जब दो व्यक्तियों में वार्तालाप होता है तो एक व्यक्ति कुछ ऐसी बातें कहता है जो दूसरे व्यक्ति को तो वह नहीं सुनाना चाहता, किन्तु दर्शकों को बतलाना चाहता है। जब वह इतने ज़ोर से बोलता है कि दर्शकवृन्द उसे सुन लेते हैं पर पास ही खड़ा व्यक्ति नहीं सुन सकता तो इस असंभव कल्पना से किसे हँसी न आयेगी ? यह कितना अस्वाभाविक है कि उसी बात को दस गज़ दूर बैठी हुई जनता सुन ले और मुश्किल से गज़ भर की दूरी पर खड़ा हुआ अन्य व्यक्ति न सुने। श्री० बदरीनाथ भट्ट-रचित "दुर्गावती" नाटक के पहले अंक के छठे दृश्य में सुमति के स्वगत-कथन के पश्चात् सुमेरसिंह आता है। वह स्थल इस प्रकार है—

"सुमति—……यों भटक रहे हैं।

(सुमेरसिंह का प्रवेश)

सुमेर०—(ध्यानपूर्वक देखता हुआ आप ही आप) यह कोई दुखिया क्षत्राणी दीखती है। देखूँ, क्या कहती है।

(धीरे से पीछे हट कर छिप जाता है)

सुमति—नहीं, नहीं, यह मेरा ही दोष है, जो मैं अपने स्वार्थ के वश यों सोचती हूँ। आपने तो खूब सोच-विचार कर ही ऐसा किया

होगा। स्वामी, आप सुन रहे हैं, पर दुःख के कारण जो कुछ मेरे मुँह से निकल गया, उसके लिए मैं क्षमा माँगती हूँ।

सुमेर०—(प्रकट होकर) अरी दुखिया; तू कौन है ? महारानी दुर्गावती के राम-राज्य में तुझ पर कौन सा संकट आ पड़ा, और किधर से ?"

—आदि

ऐसे स्वगत-कथन बहुत अस्वाभाविक जान पड़ते हैं। सुमेर-सिंह के वाक्य "यह कोई दुखिया क्षत्राणी दीखती है। देखूँ, क्या कहती है" दर्शकवृन्द तो सुन लेते हैं, पर सुमति जो दर्शक-वृन्द से भी कम दूरी पर स्थित है, नहीं सुन सकती ! यह असंभव कल्पना है या नहीं ?

पाश्चात्य नाटककारों ने इस स्वगत-कथन के मिटाने की एक युक्ति सोच रक्खी है। उन्होंने एक नये विश्वास-पात्र पात्र की अवतारणा की है। स्वगत-कथन कहनेवाला जो कुछ भी कहना चाहता है वह उस विश्वास-पात्र से कहता है। इससे वह "अस्वाभाविक प्रलाप" के दोष से बच जाता है। इस युक्ति से पात्र एक दूसरे से वार्तालाप करते हुए स्वगत-कथन से बच जाते हैं। हिन्दी-नाटकों में भी इस दोष के दूर करने का उपाय सोचना चाहिये। या तो पाश्चात्य मंच के अनुसार एक नये पात्र की सृष्टि करनी चाहिये अथवा कोई ऐसी युक्ति निकालनी चाहिये जिससे पात्र का "प्रलाप" समुचित जान पड़े।

नाटकों में एक दोष और भी है। वह पद्य में बोलने का है।

जिस स्थान पर उत्साह, क्रोध, करुणा आदि का प्रदर्शन करना पड़ता है, उस स्थान पर नाटककार शीघ्र ही गद्य से पद्य में लिखने लगता है। यदि नाटक जीवन की छाया है, उसके अंगों का प्रदर्शन है, तो उसमें जीवन का चित्र भी रहना चाहिये। हम कभी अपने जीवन के साधारण व्यवहार में पद्य का प्रयोग नहीं करते। यदि ऐसा होता तो सारा संसार ही कवि बन जाता। साधारण बोल-चाल ही जब हमारे भावों को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है तो हमें उसमें पद्य लाने की आवश्यकता ही क्या है? यदि हम पद्य में अपने दैनिक भावों का प्रदर्शन करें और अपने मित्र से साधारण बोल-चाल में, अपने सम्बन्धियों से साधारण व्यवहार में—

"भूख लगी है, थाली लाओ,
अब न करो थोड़ी भी देर।"

कहें तो वे हँसकर कहेंगे—आप यह किस तरह कह रहे हैं! जो कुछ कहना चाहते हैं ठीक तरह से कहिये।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब नाटक में हम अपने जीवन की घटनाएँ देखना चाहते हैं तो उसका चित्रण ठीक वैसा ही होना चाहिए जैसा साधारणतः होता है। किन्तु हिन्दी नाटकों में ऐसा नहीं किया जाता। उनमें जो स्थल शोक, क्रोध, चिन्ता, वीरत्व आदि के हैं उनमें पात्र गद्य कहते-कहते पद्य कहने लगते हैं।

श्री बदरीनाथ भट्ट रचित "दुर्गावती" नाटक में, पहले अंक के पहले दृश्य में, पृथ्वीराज राठौर का प्रवेश होता है। अब

उनकी "तकरीर" सुनिये—

(पृथ्वीराज राठौर का प्रवेश)

पृथ्वी०—(आप ही) आज तो जहाँपनाह की दशा विचित्र ही देखता हूँ।

किस पर भला यों आज यह त्योरी चढ़ी है आपकी ?
क्यों, चोट किस पर होने वाली है तने इस चाप की ?
हो क्रुद्ध यों यमराज ने किस पर उठाया दंड है ?
किसका प्रचण्ड घमण्ड होने को अभी शत-खंड है ?

तनिक पूछूँ तो। (अकबर से) श्रीमहाराज, शाहंशाह जहाँपनाह को आज किस चिन्ता ने घेरा है जो—

अकबर—(पृथ्वीराज की ओर देखकर) आओ पृथ्वीराज, आओ।

पृथ्वी०—जहाँपनाह—

क्रुद्ध हुए हैं भला, आज यों किस अत्याचारी पर आप ?
कौन मेटनेवाला है, खुद मिटकर दुनिया का संताप ?
भला कौन से पापी का अब घड़ा फूटनेवाला है ?
कौन शख्स है, जिसका यम से पाला पड़ने वाला है ?
कौन मूर्ख है वह, सोते अजगर को जिसने छेड़ा है ?
गहरे सागर में क्यों, कौन डुबाता अपना बेड़ा है ?
सचमुच कोई करता होगा, दीन, प्रजा पर अत्याचार ?
देने का जिसको कि दंड करते हैं जहाँपनाह विचार।"

—इत्यादि

श्री प्रेमचन्द-रचित "कर्बला" में तीसरे अंक के छठे दृश्य में

जैनब कर्बला के मैदान में हुसेन से कहती है—

"जैनब—हाय भैया ! यह मनहूस जगह है । मुझे लड़कपन से यहाँ की खबर है। हाय भैया ! इस जगह तुम मुझसे बिछुड़ जाओगे । मैं बैठी देखूँगी और तुम बरछियाँ खाओगे । मुझे मदीने भी न पहुँचा सकोगे ! रसूल की औलाद यहीं तबाह होगी, उनकी नामूस यहीं लुटेगी ? हाय तबदीह !

इस दश्त में तुम मुझसे बिछुड़ जाओगे भाई।
गर खाक भी छानूँ तो ना हाथ आवेगा भाई॥
बहिनों को मदीने में न पहुँचाओगे भाई।
मैं देखूँगी और बरछियाँ तुम खाओगे भाई॥
औलाद से बानू की यह छुटने की जगह है !
नामू से नबी की यही लुटने की जगह है !!
(बेहोश हो जाती है । लोग पानी के छींटे देते हैं)

श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी-रचित कृष्णार्जुन युद्ध में भी इसी अस्वाभाविक पद्य-व्यवहार की भरमार है । प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में कृष्णा का कारुणिक प्रलाप इस प्रकार है—

(मोर कुमुट मुरलीधर पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—(स्वगत) कौन जानता है, वहाँ क्या होता होगा ? होता होगा स्मरण करते हुए हृदयों का संहार, मेरा मनन करते हुए अप्रिय व्यापार, और मेरे गुण गाते हुए वियोग से हाहाकार, और चढ़ता होगा मेरी मानसिक मूर्ति पर अश्रुओं का गद्गद हार ! वृन्दावन, अहा ! वृन्दा—

वृन्दा, तुझ में भरा हुआ है, मेरे बालकपन का रंग।
लाड़ जसोदा मैया का वह, भैया बलदाऊ का संग।
ग्वाल-बाल की सुखद मंडली, गौवें, यमुना और निकुंज।
राधा-सह सखियों का आना, चन्द्र साथ ज्यों तारक पुंज॥
ध्वनि मुरली की रास-रंग वह जल-क्रीड़ा-स्वच्छन्द विहार।
कैसे भूल सकूँगा वृन्दा माखन-मिश्री का उपहार!
हाय, याद वह दुखदायी है, आज कन्हैया रोता है!
नन्दबबाजू मुझसे पूँछो, बेटा कह क्या होता है!

उफ! हृदय, शान्त हो। आज कितने ही दिन बाद, मुझे यह स्मृति आई। इन आँसुओं से हृदय तृप्त हुआ। (ठहरकर) थोड़ी देर मुरली बजाऊँ, मन की थकान मिटाऊँ; पर कौन सुनेगा? मैं तो हूँ, जी बहलाऊँगा—व्याकुल हृदय को समझाऊँगा।

(कृष्ण का मुरली में एक तान गाना)"

राधेश्यामी नाटकों में तो पद्य का समुद्र उमड़ता है। वहाँ एक साँस में गद्य है और दूसरी में पद्य। पहले अंक के चौथे सीन में हमीदा अकमलशाह से कहती है:—

हमीद—क्यों? क्यों पसन्द नहीं है? बेटी क्या बाप की औलाद नहीं समझी जाती? बेटी को क्या बेटों की तरह से माँ दूध नहीं पिलाती?

आज होगी कारगर तालीम मुर्शिद आपकी।
मैं दिखा दूँगी कि क्या करती है बेटी बापकी॥

अकमलशाह—यह सब सच है। मगर लड़की, तू फिर भी लड़की है।

हमीदा—अगर लड़की का सवाल ही मेरे जोश और हौसले का हारिज है, तो लीजिये, मैं आज से लड़का हुई जाती हूँ।

मर्दाना लिबास पहनती हूँ और हमीदा से हमीद बनकर अपने बाप को छुड़ाने के वास्ते रवाना होती हूँ—

लड़की न समझिये इसे, है नाम की लड़की।
तोड़ेगी अभी कुफ्र को इसलाम की लड़की॥"

इत्यादि।

डी० एल० राय ने अपने नाटकों में इस पद्य-व्यवहार का बहिष्कार बड़ी अच्छी तरह से किया है। भावोन्माद के अवसर में भी, जब कोई हिन्दी-नाटक का पात्र बड़े जोर से भावोन्मेष में चिल्लाने लगता है, डी० एल० राय के पात्र बड़ी सौम्यता से अपने विचार प्रकट करते हैं! शाहजहाँ नाटक के दूसरे अंक के पाँचवें दृश्य में शायस्ताखाँ कहता है—

"हिन्दोस्तान के बादशाह ग़ाजी आलमगीर।

(बुर्का डाले हुए जहानारा का प्रवेश)

जहा०—झूठ बात है! हिन्दोस्तान का बादशाह औरंगज़ेब नहीं है। हिन्दोस्तान के बादशाह शाहंशाह शाहजहाँ हैं।

मीर-जुमला—कौन है यह औरत?

जहा०—कौन है यह औरत! यह औरत है, बादशाह शाहजहाँ की लड़की जहानारा।

(बुर्का उलट कर) क्यों औरंगज़ेब, तुम्हारा चेहरा यकायक ज़र्द क्यों पड़ गया?

औरंगज़ेब—बहन, तुम यहाँ कहाँ?

जहा०—मैं यहाँ क्यों आई—यह बात औरंगज़ेब, आज इस तख्त पर मजे में बैठ कर इनसान की आवाज़ में पूछने की ताव तुम में है? औरंगजेब, मैं यहाँ आई हूँ बादशाह से बगावत करने के तुम्हारे जुर्म की नालिश करने।

औरंग०—किससे!

जहा०—खुदा से? खुदा नहीं है, यह तुमने सोच रखा है औरंगजेब?

औरंग०—मैं यहाँ बैठकर उसी खुदा की फकीरी कर रहा हूँ।

जहा०—चुप रहो! खुदा का पाक नाम अपनी .जबान से न लो। .जबान जल जायगी। बिजली और तूफान, भूचाल और बाढ़, आग और मरी!—तुम लाखों बेगुनाह औरत-मर्दों के घर उड़ा-उड़ा कर, तोड़-फोड़ कर, बहाकर, जलाकर तबाह करके चले जाते हो। सिर्फ ऐसे ही लोगों का कुछ नहीं कर सकते।

औरंग०—मुहम्मद! इस पागल औरत को यहाँ से ले जाओ। यह दरबार है, पागलखाना नहीं। मुहम्मद!

जहा०—देखूँ, इस दरबार में किसकी मजाल है कि बादशाह शाहजहाँ की लड़की के बदन में हाथ लगाये। वह चाहे औरंगज़ेब का लड़का हो और चाहे खुद शैतान ही हो।

औरंग०—मुहम्मद! ले जाओ!

मुहम्मद—माफ कीजिये अब्बाजान! मेरी इतनी मजाल नहीं।

जसवन्त—बादशाहजादी से ऐसे बर्ताव को हम नहीं सह सकते।

और सब—कभी नहीं।

औरंग०—सच है! मैं गुस्से में कैसा अंधा हो गया था! अपनी

बहन, बादशाह शाहजहाँ की बेटी से ऐसा बर्ताव करने का हुक्म दे रहा था। बहन! महल में जाओ। इस आम दरबार में सैकड़ों बुरी नजरों के सामने खड़ा होना मुनासिब नहीं। बादशाह शाहजहाँ की लड़की को यह नहीं सोहता।"

हर्ष का विषय है कि श्रीजयशंकर प्रसाद जी ने अपने नाटकों में पद्य का प्रयोग नहीं के बराबर किया है। उन्होंने इस अस्वाभाविकता को भली भाँति समझकर पद्य का प्रयोग प्रायः वहीं किया है जहाँ कोई प्रार्थना अथवा संगीत है। अजातशत्रु में पद्य की कुछ भूलें अवश्य हैं। हिन्दी के अन्य नाट्यकारों को भी इस आदर्श पथ का पथिक बनना चाहिए।

अब मुझे अभिनय के विषय में कुछ कहना है। अभी तक हमारा रंगमंच अच्छे अभिनेताओं से सूना है। उसका एक कारण है। भारतवर्ष का सभ्य-समाज मंच को निकृष्ट स्थान समझता है और वहाँ उन्हीं लोगों की कल्पना करता है जो ज्ञान और मान से रहित हैं। एक धार्मिक कथा है, जो किसी समय 'कैलकटा रिव्यू' (Calcutta Review) में प्रकाशित हुई थी। उसका सार यह है कि नाटक की प्रारम्भिक अवस्था में गन्धर्वों और अप्सराओं ने किसी प्रहसन में ऋषि-मुनियों का मजाक उड़ाया था। इस पर ऋषियों ने क्रोध में आकर अभिनेताओं को शाप दिया कि तुम समाज में अपमानित होकर नीची श्रेणी पात्रो और शूद्रों के समकक्ष बने रहो। इसी कथा में विश्वास रखकर शायद समाज अपने अच्छे-अच्छे पुरुष-रत्न मञ्च पर नहीं भेजना चाहता। किन्तु अब समय की गति

बदल रही है। नाट्यकला का आदर चारों ओर हो रहा है। अभिनेताओं का सम्मान संसार में आश्चर्य की वस्तु है। अभी उस दिन प्रसिद्ध हास्य-अभिनेता चार्ली चेपलिन संसार के सबसे बड़े आदमियों में परिगणित किया गया था। ऐसी स्थिति में जब संसार नाट्य और मञ्च-कला में आगे बढ़ रहा है, तब केवल हिन्दी-संसार ही क्यों पीछे रहे? अब समाज को अपनी विचार-धारा दूसरी ओर मोड़ देनी चाहिए। उसे भी संसार के मञ्च पर अपने कलाकार उत्कृष्ट अभिनेताओं को भेजना चाहिए। पाश्चात्य देशों ने तो इस कला को सिखलाने के लिए ट्रेड यूनियन की तरह संस्थाएँ स्थापित कर ली हैं और बाज़ार के नियमों की भाँति जितनी अभिनेताओं की माँग होती है उतनी पूर्ति वे लोग करते हैं। ऐसा करने से इस व्यवसाय का महत्त्व कम नहीं होने पाता। हिन्दी मंच में भी जिस दिन इस प्रकार माँग की पूर्ति होगी वह दिन हिन्दी-मञ्च की उन्नति का सच्चा दिन होगा।

हिन्दी-मञ्च पर एक बात की और भी कमी है और वह यह कि स्त्रियाँ नाट्यकला में भाग नहीं लेतीं। प्राचीन समय के नाटकों में स्त्रियाँ बराबर भाग लेती थीं। गन्धर्वों के साथ अप्सराएँ भी नृत्य और गान करती थीं, किन्तु इस समय मञ्च पर पुरुष ही स्त्री का काम चला लेते हैं। वे ही स्त्री-रूप में आकर भाव-भंगियाँ दिखला कर अपने पुरुष-पन के प्याले में स्त्री-पन की सुकुमार शराब भरते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो परदा और दूसरा शिक्षा का अभाव। ये दोनों बातें पाश्चात्य समाज

में नहीं हैं। अतएव वहाँ स्त्रियाँ स्वतन्त्रता-पूर्वक रंगमंच पर आती हैं। हमें आशा है कि वह दिन शीघ्र ही आयेगा, जब स्त्रियाँ भी अपनी सुकुमार कला से हिन्दी-रंगमंच को गौरवान्वित करेंगी।

रंगमंच का सम्बन्ध आधुनिक चित्रपट से बहुत निकट हो गया है अतः उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

इस सभ्यता और संस्कृति के युग में हिन्दी रंगमंच का अस्तित्व ही नहीं है, हिन्दी वालों के लिए इससे अधिक अपमान की बात क्या होगी! हिन्दी नाटकों का प्रणयन रंगमंच की दृष्टि से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया था और सन् १८६८ में उन्होंने विद्यासुन्दर की रचना की थी, किन्तु वह भी बँगला के उसी नाम के नाटक का ही अनुवाद था। आगे चल कर उन्होंने सत्य-हरिश्चन्द्र की रचना की थी, जो काशी में खेला भी गया था और स्वयं बाबू हरिश्चन्द्र ने हरिश्चन्द्र का अभिनय किया था। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने नाटकों का सूत्रपात हिन्दी में किया था। यद्यपि उनके नाटक आजकल के नाटक-नियमों की कसौटी पर कसे नहीं जा सकते। जो हो, उस समय हमारा रंगमंच विकृत रूप में तैयार होने जा रहा था। भारतेन्दु जी के बाद राधाकृष्णदास ने महाराणा प्रताप अथवा राजस्थान-केसरी की रचना भी नाटकीय तत्त्वों को दृष्टि में रखकर की थी। उनके बाद अन्य लेखकों ने भी इसी दिशा में प्रयत्न किया था पर उनके नाटक रंगमंच पर ठीक-ठीक उतर नहीं सके। इसका कारण यही था कि

हमारे हिन्दी-लेखकों में नाटक-रचना के विषय में भारतेन्दु जी के समान लगन नहीं थी और न उनके सामने हिन्दी रंगमंच का रूप ही तैयार था। जब लेखक स्वयं रङ्गमञ्च के स्वरूप से अपरिचित है तो उसके नाटकों का रंगमंच पर सफलता के साथ कैसे अभिनय किया जा सकता है, यह विचारणीय है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से अब तक और भी अनेक विद्वान लेखकों ने भावपूर्ण सुन्दर नाटकों की रचना की है, पर उनके अनुशीलन से यही विदित होता है कि इन लेखकों ने रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं की तरफ बहुत कम ध्यान दिया है। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ हमारे यहाँ के नाटककार अपने यहाँ रङ्गमञ्च की सृष्टि करने में उत्सुक नहीं जान पड़ते और न वे रङ्गमञ्च के विशेषज्ञ ही होना चाहते हैं। उनके नाटक साहित्यिक दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं, भावनाओं के घात-प्रतिघात के मनोहर चित्र हैं, पर अभिनय से बहुत दूर। इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के शिक्षित छात्रों ने ऐसे नाटकों को सफलतापूर्वक अभिनय करने में कितना परिश्रम उठाया, है, यह वही जान सकता है जिसने पहले नाटक पढ़ कर अभिनय देखा है अथवा जिन्होंने स्वयं अभिनय में भाग लिया है। इन नाटकों को देखना भी दर्शकों के लिए किसी नीरस क्लास में बैठने के दंड से कम नहीं था—इसलिए कि दर्शकों की रुचि अभी रङ्गमञ्च के साथ साहित्यिक सौन्दर्य देखने की नहीं है। वे अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी अथवा कोरिन्थियन कंपनी में पर्दों के फटने तथा असम्भव वस्तुओं को सम्भव होते हुए देखने के लिए विशेष

उत्सुक हैं। वे रंगमंच पर तमाशा देखना चाहते हैं। हमारी रुचि बिगाड़ने का सारा भार इन पारसी कंपनियों के सिर पर रखा जा सकता है, जिन्होंने अपने व्यवसाय के सामने हमारे यहाँ के रंगमंच की वास्तविक सृष्टि होने का अवसर ही नहीं आने दिया।

जब हमारे पास न अपना रंगमंच है और न दर्शकों की रुचि में ही संस्कृति है, उस समय हमारे सामने चित्रपट किसी तूफान की तरह आता है। जनता की आँखों में इस चल-चित्र का नशा छा जाता है और वे नाटकघरों में न जाकर सिनेमा-घरों की ओर अपने पैर बढ़ा देते हैं। हमारी जनता तो मनोरंजन चाहती है, उसके साथ जीवन के आदर्श नहीं। इस रुचि की थाह पाकर बहुत सी कंपनियाँ ऐसे चित्रपट बनाने में प्रवृत्त होती हैं, जिनसे केवल मनोरंजन-प्रिय जनता की इच्छापूर्ति होती है। इन परिस्थितियों में हमारे चित्रपट पारसी थियेटरों के अनुवाद हो जाते हैं और उनमें वही असम्भव बातें दिखलाई जाती हैं, जो थियेटरों की प्रिय घटनाएँ हैं। इस प्रकार चित्रपटों ने थियेटरों के पर्दों का अनुसरण कर हमारी जनता की रुचि और भी निकृष्ट कर दी और उन्हें अधिक विलासी बना दिया है। यह संक्षेप में हमारे अधिकांश चित्रपटों का परिचय है।

रंगमंच के इतिहास में चित्रपट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि हम चित्रपट को रंगमंच का अमर रूप कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। रंगमंच पर जो दृश्य दिखलाये जा सकते हैं, वे अपना अस्तित्व परिमित समय अथवा निश्चित स्थान तक ही

रख सकते हैं । पात्र भी एक ही प्रकार का अभिनय सदैव नहीं कर सकते। किन्तु चित्रपट एक बार प्रस्तुत किये गये दृश्यों को भविष्य के लिए भी सुरक्षित रख सकता है । पात्रों के एक बार के अभिनय को सौ बार उसी भाँति दिखला सकता है । अतएव चित्रपट रंगमंच के पात्रों एवं कार्यों को अमरत्व प्रदान कर देता है। आज सर्वश्रेष्ठ सुन्दर नट 'रुडोल्फ वैलंटिनो' जीवित नहीं है, किन्तु 'ब्लैक ईगल' में हम अब भी उसका अभिनय देख सकते हैं; उसको जीवितावस्था में देख कर प्रसन्न हो सकते हैं और कुछ क्षणों के लिए हम वैलंटिनो के साथ इस प्रकार मनोरंजन में मस्त हो जाते हैं जैसे दुनियाँ अब भी उसी प्रकार है और वैलंटिनो अब भी जीवित है।

इस परिस्थिति में चित्रपट का मूल्य रंगमंच से बहुत अधिक हो जाता है । चित्रपट एक अमर सन्देश वहन कर सकता है, जो युगयुगान्तर तक हमें हमारी परिस्थितियों से परिचित करा सकता है। प्रत्येक समय वह हमारे हृदय में नव-जीवन सञ्चार कर सकता है और हमें उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य कर सकता है। चित्रपट का महत्त्व कितना अधिक हो जाता है, जब हम यह सोचते हैं कि मनोरंजन के साथ उपदेश देने की क्षमता चित्रपट ही में है । माता यदि अपने बच्चे से सच बोलने के लिए कहे तो शायद बच्चा यह बात न माने । किन्तु यदि माँ मिठाई देते हुए कहे—'बच्चे, यह मिठाई लो और सच बोलो' तो बच्चा दौड़ कर मिठाई लेते हुए कहेगा—'माँ, अब मैं झूठ क्यों बोलूँगा ?' चित्रपट की शक्ति यही मिठाई

वाली माँ है जो हमें सच बोलने से लिए बाध्य कर सकती है। उपदेश की नीरसता चित्रपट में सरसता बन जाती है और हमारी भावनाएँ अपनी शक्ति से उठ कर सच्चे पथ की ओर अग्रसर हो जाती हैं। मनोरंजन वह पारस है, जिससे उपदेश का लोहा सोना बनाया जा सकता है।

रंगमंच से चित्रपट में एक और विशेषता है। रंगमंच में स्थान की संकीर्णता और पात्रों के कार्य करने की अस्वच्छन्दता, दूरी दिखलाने की असमर्थता, स्थल-परिवर्तन की अस्वाभाविकता बनी रहती है। चित्रपट इन सब अभावों के हटा देने में समर्थ हो गया है। स्थान की विभिन्नता, मीलों फैले हुए मनोहर दृश्य, एक हज़ार फीट ऊँचे उड़ते हुए वायुयानों से दीखने वाले नीचे के स्थल, पात्रों के कार्य-क्षेत्र की पूर्ण स्वच्छन्दता और कार्य-संपादन की स्वाभाविकता चित्रपट में जीवन का आभास ला देती है। इसी जीवन के आभास में मन इस प्रकार भूल जाता है जैसे वह स्वयं उसी कार्य में व्यस्त हो। उसके साथ जीवन नाचता हुआ आता है और उसे छूकर भाग जाता है। वह उस समय इतना लीन हो जाता है मानो वह अपने ही जीवन की कोई घटना देख रहा हो और उसमें वह स्वयं एक आवश्यक व्यक्ति हो। मनुष्य इस समय अपने को भूला रहता है और यही समय है जब उसके हृदय में कोई बात उठाई जा सकती है। उपदेशक को तो पहले श्रोता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ता है। जब श्रोता उपदेशक में विश्वास रख उसकी बात सुनने के लिए तत्पर हो जाता है तब

कहीं उपदेशक के लिए यह अवसर आता है कि वह अपने विचार उसके हृदय तक पहुँचावे। चित्रपट को तो मनुष्य का हृदय आकर्षित करने में कुछ परिश्रम ही नहीं पड़ता। मनुष्य तो मन्त्रमुग्ध (hypnotised) से ही हो जाते हैं और इसी अवस्था में उन पर अधिक से अधिक प्रभाव डाला जा सकता है।

इन सब बातों को ध्यानपूर्वक समझने से हमें ज्ञात हो जाता है कि चित्रपट-निर्माता का कर्तव्य कितना कठिन है। किन्तु हम देखते हैं कि भारतवर्ष में चित्रपट के संचालकों के हृदय में अपने कर्तव्य के लिए अणुमात्र भी ध्यान नहीं है। वे आदर्शों और शिक्षा के कायल नहीं हैं। वे चित्रपट के निर्माण करने में केवल इसी का ध्यान रखते हैं कि अमुक चित्रपट से वे साधारण जनता की वासनामयी वृत्ति को गुदगुदा कर उनसे कितना रुपया वसूल कर सकते हैं। इसीलिए वे सदैव ऐसी कहानी चाहते हैं जो साधारण दर्शकों की रुचि को अपनी ओर आकर्षित कर सके। दुर्भाग्य से भारतीय जनता की रुचि अभी इतनी परिष्कृत नहीं हुई है कि वह सारहीन वासना के उद्दाम वेग से कलुषित चित्र-पट का बहिष्कार कर सके। इस कमज़ोरी का अनुचित लाभ उठाकर चित्रपट-निर्माता धन-कुबेर बनना चाहते हैं। उनसे राष्ट्र अथवा जातिगौरव के ध्यान की आशा रखना मृग-जल से पानी की आशा रखने के समान है। उनकी इस कुरुचिपूर्ण नीति का एक कारण और हो सकता है और वह यह कि उन्हें एक चित्र-पट पर कई हज़ार रुपये खर्च करने पड़ते हैं। अतएव वे अपने चित्रपट को उसी विषय के रंग में रँगेंगे जो विषय

जनता की रुचि के अनुकूल सिद्ध हो चुका है और जिसके कारण उन्हें अपना धन वापिस मिल जाने की आशा है। धन खो जाने की आशंका से वे (जनता की रुचि को जानते हुए भी) अपने चित्रपट को किसी नये विषय के प्रयोग का साधन नहीं बनावेंगे। यदि विषय जनता की रुचि के अनुकूल न हुआ तो फिल्म किसी भी सिनेमागृह में तीन दिन से अधिक चल ही नहीं सकती और दर्शकों की संख्या भी उजड़ते हुए वसन्त के फूलों के समान ही इधर-उधर न्यून संख्या में होगी। यही कारण है कि वे अपने चित्रपट का वही विषय रखेंगे जिसके बारे में यह निश्चय हो जायगा कि यह विषय चल निकलेगा। पाश्चात्य निर्माताओं के समान वे मनोवेगों के विविध रूपों के अध्ययन करने का न तो प्रयत्न ही करते हैं और न यही चाहते हैं कि उनके चित्रपट के लेखक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ या उच्च श्रेणी के उपन्यासकार या कहानी-लेखक हों। वे तो सस्ती कहानी चाहते हैं। यह स्वार्थान्धता वास्तव में अक्षम्य है। वे यह नहीं जानते कि जनता की रुचि और चरित्र को बिगाड़ने या सुधारने की कितनी बड़ी जिम्मेदारी उनके हाथों में है। जनता की रुचि और चरित्र क्या है ? राष्ट्र के भाग्य-निर्माण अथवा उसके कारुणिक पतन की आधारभूत शक्ति। यदि इसी शक्ति की उपेक्षा कर दी गई तो फिर जातीय-जीवन का विषय भविष्य में बहुत अनिश्चित हो सकता है। किन्तु इस महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से सम्भवतः कोई चित्रपट-निर्माता अपने चित्रपट को नहीं देखता। यह भयानक भूल जो सहस्रों व्यक्तियों के जीवन को

तराजू के काँटे के समान अनिश्चित दिशा की ओर उन्मुख कर सकती है, चित्रपट-निर्माताओं के मनोरंजन की सामग्री है। यह कितने क्षोभ की बात है !

चित्रपट निर्माण करने में लेखकों की ओर भी डायरेक्टरों को ध्यान देना उचित है। पाश्चात्य देशों में लेखकों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। वहाँ तो चित्रपट के लिए साधारण कहानी लेखकों को २०० पाउण्ड मिल जाते हैं। ब्रिटिश इंटरनेशनल पिक्चर्स (British International Pictures) तो लेखकों और अभिनायकों का एक ही प्रकार से सम्मान करता है। हाँ, एक बात अवश्य है। डायरेक्टर अपने चित्रपट को अधिक नाट्यमय (Dramatic) बनाने के लिए कहानी में बहुत कुछ परिवर्तन कर देता है। फिर उसे साहित्यिक सौन्दर्य की परवा नहीं रहती। उसे यह चिन्ता होती है कि कहानी को किस प्रकार मोड़ दे कि वह दर्शकों की आँखों में और भी अधिक कौतूहलजनक बन जावे। उस समय उसे कहानी-लेखक की आत्मा पर प्रहार करते किंचित् भी दुःख नहीं होता। जब कहानी-लेखक अपनी कहानी की फिल्म देखता है तो उसे आश्चर्य हो जाता है कि "ओः मैंने तो इस पात्र से ऐसा काम करने की व्यवस्था ही नहीं की, यह कैसे हो गया ?" ऐसी परिस्थिति बड़ी भयानक होती है। यदि इस प्रकार के परिवर्तन से चित्रपट सफल हो गया तो लेखक का यश अनेक गुणा बढ़ जाता है और वह अयोग्य होने पर भी अन्य कम्पनी-डायरेक्टरों की दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। और

यदि चित्रपट असफल हो गया तो उसका सुयोग्य लेखक भी अपना अर्जित यश खो बैठता है और फिर उसका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। डायरेक्टरों की यह परिवर्तन-प्रियता लेखकों के भविष्य जीवन की खिलवाड़ ही समझी जानी चाहिए। उनके व्यवसाय की संकुचित दृष्टि लेखकों की शक्ति का असत्य प्रचार कर सकती है । हाल ही में एक प्रसिद्ध फिल्म कम्पनी के एक फिल्म के निर्माण में यही बात हुई । डायरेक्टर ने अपने मन के अनुसार कहानी और वार्तालाप में परिवर्तन किये जिस पर बेचारे लेखक का कुछ भी अधिकार नहीं था । उसमें कुछ ऐसे असामयिक और असंगत गाने रखे गये जिनके विषय में लेखक को हस्तक्षेप करने का साहस ही नहीं था । वे गाने चाहे साधारण जनता की रुचि के अनुकूल भले ही हों, पर वे न तो सुरुचिपूर्ण ही थे और न सामयिक ही । इसी सम्बन्ध में लेखक ने एक पत्र दिल्ली से प्रकाशित होने वाले "चित्रपट" के सितम्बर १९३३ के १४वें अंक में प्रकाशित कराया है।

यह है लेखक की स्थिति। वह अपने अधिकारों के लिए लड़ भी नहीं सकता । इंगलैंड में लेखकों का स्वाभिमान कितना अधिक है। जान गाल्सवर्दी के 'लायल्टीज़' का चित्रपट बहुत वर्षों से स्थगित कर दिया गया है, क्योंकि उन्होंने एक अमेरिकन फर्म को, जिसने उस कृति को चित्रपट के लिए लिया है, फरडिनेंड डि लेविस को एक जैनटील बनाने से मना कर दिया है और सम्भवतः उसी प्रकार चित्रित की जावेगी जिस प्रकार कि वह लिखी गई है। उसी प्रकार शा भी अपने नाटकों में

परिवर्तन नहीं होने देंगे। एच० जी० वेल्स ने एक प्रतिन्यास लिखा था और यद्यपि वह स्पष्टतः अच्छा नहीं था, तथापि परिवर्तन न करने के सिद्धान्त पर उसके चित्रपट की स्वीकृति नहीं दी। उसका अभी तक चित्रपट नहीं बन सका और वह वेल्स का लेखकों के प्रति उचित व्यवहार दिलाने की धारणा का स्मृति-चिह्न है।

लेखक की लेखनी भी साहित्य और देश की अनेक समस्याओं के हल करने का भार वहन करती है। वर्तमान लेखक-समुदाय अंगरेज़ी चित्रपटों के चरित्रों की चोरी कर अपनी कहानी का निर्माण करते हैं अथवा लैला-मजनूँ, शीरीं फरहाद, गुलबकावली जैसी बासी और पुरानी कहानियों को फिर से जनता के सामने लाना चाहते हैं, जिनसे देश और समाज का एक इञ्च भर भी लाभ नहीं हो सकता। नवयुग और देश के भावी स्वर्णयुग में इस वासनात्मक 'इश्क' की क्या ज़रूरत है, यह उनका हृदय जाने। अधिक से अधिक किसी पौराणिक कथा का चित्रण कर दिया जाता है, जिसमें धर्म की अन्धी भावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता। इससे कूपमंडूकवत् जनता के हृदय में भले ही कुछ क्षण के लिए सजीवता आ जावे, किन्तु इससे नवयुग के निर्माण में सहायता नहीं मिल सकती। हम तो अपने लेखकों से यह आशा रखते हैं कि वे भारतीय मनोवृत्ति का ऐसा सुन्दर चित्र हमारे सामने रखें, जिसमें भारत के प्रत्येक व्यक्ति में जीवन आ जावे—ऐसा जीवन नहीं जो क्षणिक हो, पर ऐसा, जिसमें क्रियात्मक शक्ति का आविर्भाव

हो। धार्मिक अन्ध-परंपरा को त्याग कर लेखकों की लेखनियाँ वास्तविक जीवन के संघर्ष को चित्रित करें, गरीबों की भूखी आत्माओं में उतर आवें और विलासमय जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दें। हमारे नेत्रों के सामने ऐसी समस्याएँ आ जावें जिन्हें हल करने के लिए हम अपने जीवन को उत्सर्ग कर दें। ऐसे चित्रों का निर्माण हो जिनमें भारतवर्ष का गौरव संसार-प्रसिद्ध हो जावे—भारतवर्ष का भी नाम प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के मुख पर हो। चाहे संसार हमें पराधीन जाति देखे, किन्तु वह इसका अनुभव अवश्य कर ले कि हममें जीवन है और अनुचित जीवन के विरुद्ध लोहा लेने की ताकत है। वास्तव में सच्चे चित्र-पट वे ही हैं जो वास्तविक जीवन में उठने वाली समस्याओं के प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

इसके बाद अभिनेता की जिम्मेदारी है। अभिनेताओं को सर्वप्रथम अपने को भारतीय संस्कृति का एक अभिभावक समझ कर रङ्गमञ्च पर उतरना चाहिए। चित्रपट का मुख्य विषय प्रायः प्रेम-कथाओं से ही सम्बन्ध रखता है। इसीलिए अभि-नेताओं को आलिंगन और चुंबन की बान सी पड़ी रहती है। बालकों अथवा युवकों पर इसका क्या प्रभाव पड़ सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि नायकों की इस उच्छृङ्खलता ने सम्भ्रान्त घर की स्त्रियों को रङ्गमञ्च पर आने से रोक रक्खा है। 'अजंता' के चित्रपट 'अफ़ज़ल' के पुन-र्चित्रण का रहस्य इस घटना में निहित है। जैसे ही कोई उच्च-शिक्षित सम्भ्रान्त महिला इस वातावरण को देखती है, वह

निराश होकर रङ्गमञ्च को ठोकर मार कर चली जाती है।

अभिनेता में सर्व-प्रथम तो स्वाभाविकता होनी चाहिए। उसका अभिनय स्वभावानुकूल तथा संयत हो। हाथ-पैर फेंकने की अपेक्षा उसके मुख पर भावाकृति का प्रदर्शन अधिक अपेक्षित है। हमारे यहाँ के अभिनेता या तो पाश्चात्य अभिनेताओं की नकल करते हैं अथवा रङ्गमञ्च पर आवश्यकता से अधिक उछल-कूद मचाते हैं। एक पात्र का दस आदमियों से भिड़ जाना और उन सब को पीट कर साफ निकल जाना अथवा बिना मतलब के दस फीट ऊपर कूद जाना और अनेक तरह की कलाबाज़ियाँ दिखलाना—इस प्रकार की अस्वाभाविक बातों से जनता का मनोरंजन किया जाता है। डगलस फ़ेयर बैंक्स ने 'थीफ ऑफ बगदाद' में इस तरह का खेल कभी दिखलाया था, बस एक बार ही उसकी नकल हिन्दुस्तान में की जाने लगी। अधिकांश चित्रपटों में 'दि थीफ़ ऑफ़ बगदाद' की छाया आ गई और मास्टर बिट्ठल इण्डियन डगलस के नाम से पुकारे जाने लगे। यह हमारी मौलिकता का नमूना है!

हमारे अभिनेताओं को गाने का बड़ा शौक है। बात-बात पर गाते हैं। बात-चीत के दो मिनट भी शायद उन्हें कठिन जान पड़ते हैं। दो पात्र बातचीत कर रहे हैं। कुछ बात होने पर एक ने स्वर छेड़ा तो दूसरा कब चुप रह सकता है। उसने भी गाना समाप्त होते ही अपना गाना प्रारम्भ कर दिया। और गाने भी 'साँवलिया' 'तिरछी नज़रिया' वाले ढँग के। 'सती

अनसूया' चित्रपट इसका साक्षी है। 'अयोध्या का राजा' (King of Ayodhya) में राजा भी अपने मुसाहबों के बीच में गाने लगता है। मानो राजा की अपनी कोई मर्यादा ही नहीं है। शायद अभिनेता समझते हैं कि जनता गाना ही माँगती है। गाना, गाना, गाना। हर्ष की बात है कि अब यह प्रवृत्ति कम हो रही है।

हमारे अभिनेता चित्रपट के लिए क्या तैयारी करते हैं? प्रसिद्ध हास्य-रसाभिनेता चैपलिन के विषय में प्रसिद्ध है कि वह यह निश्चित करने के पूर्व कि उसका चित्रपट किस विषय का होगा, पहले सारे संसार में एक वर्ष तक घूम लेगा। हमारे यहाँ इतना बड़ा अभिनेता न तो है ही और न कोई कंपनी अपने अभिनेता को इतनी स्वतन्त्रता ही दे सकती है। किन्तु तो भी अभिनेता का कार्य इतना सरल नहीं है जितना कि हमारे यहाँ के अभिनेताओं ने समझ रक्खा है। एक तो लेखक की मनोवेगों के क्षेत्र में अनुभव-हीनता और दूसरे चित्रपट-निर्माताओं की व्यावसायिक दृष्टि ने अभिनेताओं को भी अकर्मण्य बना रक्खा है। किसी विशेष परिस्थिति में हृदय की क्या दशा होती है, प्रेम घृणा में कैसे परिवर्तित होता है, प्रसन्नता में उदासी किस प्रकार छा जाती है, युद्ध में स्त्री की भावना से कैसे शिथिलता आती है, इनके अध्ययन तथा भावभंगी की न्यूनता ने हमारे चित्रपट को स्वाभाविकता से बहुत दूर फेंक दिया है। हमारे चित्रपट जीवन के चित्र नहीं, वे हैं हमें हँसाने अथवा बहलाने के लिए चलते-फिरते तमाशे।

अब हम चित्रपट के भविष्य के विषय में कुछ अपेक्षित बातों का निर्देश करेंगे। चित्रपट का पहला कार्य तो यह होना चाहिए कि वह देश में ऐक्य की भावना का प्रचार करे। जितनी भी जातियाँ अथवा संप्रदाय देश में है, उनमें संगठन का सूत्र-पात करे। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का बीज कहीं भी अंकुरित न न होने पावे, प्रत्युत इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न की जाये कि हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक सहायता करते हुए अपने स्वार्थों का बलिदान कर सकते हैं। इसी भावना से देश में ऐक्य का प्रचार हो सकता है और चित्रपटों से इसका प्रचार जिस सुगमता से हो सकता है उतना अन्य किसी साधन से नहीं।

चित्रपट के द्वारा हिन्दी भाषा का प्रचार देश के कोने-कोने में हो सकता है। और इसी साधन से हिन्दी सरलतापूर्वक राष्ट्र-भाषा हो सकती है। दुःख है कि चित्रपटों में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है वह न तो हिन्दी है और न उर्दू ही। जहाँ हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जाता है वहाँ उच्चारण की इतनी भूलें होती हैं कि उन्हें सुन कर हँसी आती है। 'प्रणाम' का 'परणाम', 'प्रचार' का 'परचार' तो साधारण दोष हैं, पर जहाँ 'ब्रह्म' का 'भ्रम' हो जाता है वहाँ हिन्दी की क्या दशा हो जाती है ! यह आवश्यकता नहीं है कि साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग ही वार्तालाप में किया जाय, स्वाभाविक रूप में हिन्दुस्तानी या सरल हिन्दी का प्रयोग समीचीन होगा। पर यह निश्चय है कि यदि चित्रपट हिन्दी भाषा के प्रश्न को अपने हाथ में ले

और उसका शुद्ध रूप में प्रचार करे तो राष्ट्रभाषा का प्रश्न सहज ही में हल हो सकता है।

चित्रपट के द्वारा हम अपने संगीत और नृत्य को पुनर्जीवित कर सकते हैं। गान और नृत्य में हमारे यहाँ जो कला है वह संसार को मुग्ध कर सकती है। श्रीमती रागिनी देवी और उदय-शंकर ने इस सत्य को प्रमाणित कर दिया है। दुर्भाग्य से गान और नृत्य का सम्बन्ध हमारे यहाँ सुशिक्षित समाज से टूट गया है और वह समाज के किसी अपवित्र कोने में ही केन्द्रित हो गया है। अपनी उस उच्च कला में फिर से प्रवीणता पाना अब हम लोगों का कर्तव्य है। चित्रपट में उच्चकोटि के गान और कलायुक्त नृत्य की सृष्टि कर हम अपने समाज का ध्यान इस ओर फिर आकर्षित कर सकते हैं।



चित्रपट के द्वारा हम भारत का सच्चा चित्र खींच कर जनता के सामने रख सकते हैं। ग्राम्य-जीवन की कठिनाइयाँ, गरीबों की उदरज्वाला, किसानों की असहायता, धनियों का अत्याचार, विधवाओं की करुणामय दिनचर्या, वृद्धों का वासनामय विलास, यह सब हम दो घंटों में जनता के हृदय तक पहुँचा सकते हैं। जनता समझ जाय कि देश किस ओर जा रहा है, गाँवों को हम किस प्रकार सुधार सकते हैं, हरिजनों को हम कैसे सुखी कर सकते हैं, आदि-आदि। देश को एक बार फिर से अपना गृह-प्रबन्ध करने की आवश्यकता है और यह चित्रपट द्वारा बहुत सुगम है।

चित्रपट-निर्माताओं ने हमारे यहाँ के उपन्यासकारों और

कहानी-लेखकों को अभी तक बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। उन्होंने हमारे कलाकारों को इस योग्य समझा ही नहीं कि वे भी चित्रपट के योग्य हैं। इसीलिए हमारे चित्रपट में हमें कोई जीवन का अच्छा चित्र देखने को नहीं मिलता। हर्ष की बात है कि इस क्षेत्र में भी अब आशा का प्रभात उदय हो रहा है।

समालोचना

संसार में न जाने कितनी विभूतियाँ हैं, उसमें कितनी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ हैं जो मनुष्य के हृदय में शान्ति और आनन्द का उद्रेक करती हैं! पर उन सबका अस्तित्व प्रकाश से है। यदि प्रकाश न हो—प्रातः सूर्य की किरणें उन पर न पड़ें—तो वे सारी विभूतियाँ अन्धकार के परदे में छिपी रहें, आँखों को उनका ज्ञान ही न हो, उनमें सुन्दरता के गुण होते हुए भी कोई विशेषता न आये। सूर्य के प्रकाश से ही उनमें विलक्षणता, सौन्दर्य और आनन्द उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ आती हैं। उसी प्रकार साहित्य की अनन्त बिखरी हुई विभूतियों की सुन्दरता बिना समालोचना के नज़र के सामने नहीं आती। बिना समालोचना के उसके गुणों अथवा दोषों का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि बिना समालोचना के साहित्य का महत्त्व ही नहीं है। सूर्य का प्रकाश न रहने पर भी विश्व की वस्तुओं का महत्त्व कम नहीं होता। किन्तु एक बात है। सूर्य का प्रकाश वस्तुओं में सौन्दर्य की स्थापना करता है; उन्हें अन्धकार के परदे से बाहर लाता है, उनके विविध स्वरूपों को स्पष्ट करता है। उसी प्रकार समालोचना साहित्य में सौन्दर्य का अस्तित्व खोज निकालती है; उसमें गूढ़तम भावनाओं अथवा विचारों का पता लगा लेती है। कौन-सा मणि कहाँ है, किस मोती का क्या

स्थान है, साहित्य-सागर में समालोचना यही ढूँढ निकालती है। बिना समालोचना के साहित्य में जान नहीं आती, साहित्य एक प्रकार से प्राणशून्य-सा रहता है। सत्रहवीं शताब्दी में भी तुलसी के मानस को लोग जानते थे—प्रेम से सुनते थे। सूरदास की पदावलियाँ वायु को प्रतिध्वनित करती थीं—कानों में पीयूष-वर्षण करती थी; पर उनका महत्त्व क्या था? अधिकतर धार्मिक ही न? लोग उन्हें बड़े प्रेम से सुनते, माधुर्य-लहरी में डूब जाते—भाव-मग्न हो, कल्पना की आँखों से, राम और कृष्ण की छवि देखते; पर इसके सिवाय लोगों में, उनके धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त, और क्या श्रद्धा थी? यही न, कि तुलसी सब रसों का निरूपण कर सकते हैं, सूरदास बाललीला और प्रेम की व्यंजना अंधी आँखों से भी बड़े मार्मिक ढंग से देखते हैं—बस इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसका कारण था, लोग समालोचना के महत्त्व से परिचित नहीं थे। वे उनमें अपने हृदय की वृत्ति पाते थे मस्तिष्क की नहीं। पर जैसे-जैसे लोगों ने उन महाकवियों की रचना पर विचार करना प्रारम्भ किया, जैसे-जैसे रसिक लोगों की दृष्टि उनके 'मानस' और 'सागर' की ओर बढ़ी, वैसे-वैसे उनके हाथ नये-नये रत्न आने लगे और 'मानस' और 'सागर' का महत्त्व दिनोंदिन बढ़ने लगा। आज हम देखते हैं कि उनका काव्य-महत्त्व धर्म-महत्त्व से कहीं अधिक है; क्योंकि हमने उनकी रचनाओं को, काव्य के ढंग से, समालोचना की कसौटी पर कसा है—धर्म की कसौटी पर नहीं। उनमें हमने

साहित्य शास्त्र की रीति से न जाने क्या-क्या पा लिया है। यही उनका असाधारण काव्यत्व है जो अभी तक लोगों की आँखों से छिपा था। समालोचना ने उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाल दिया है। उनमें सौन्दर्य की अत्यधिक स्थापना हो गई है।

समालोचना साहित्य का कितना बड़ा आवश्यक अंग है, इस पर लोगों ने बहुत कम विचार किया है। यही कारण है कि साहित्य का यह भाग बहुत पिछड़ा हुआ है। हिन्दी में समालोचना के चिह्न किशोरदास जी से मिलते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने कई टीकाएँ लिखीं जो व्रजभाषा में ही विभूषित थीं। पर टीका और समालोचना में अन्तर है। एक का कार्य कठिन अर्थों का सरल भाषा में अनुवाद-सा करना है और दूसरे का गुण-दोषों का स्पष्टीकरण। पर यह माननीय है कि टीका ही समालोचना की प्रथम स्थिति है—यद्यपि यह स्थिति बड़ी ही भद्दी और महत्त्वहीन है।

इस प्रकार हमारे यहाँ भी समालोचना का सूत्रपात हुआ और परवर्ती लेखकों द्वारा परिष्कृत होता रहा। पर वास्तविक समालोचना का रूप अब तक निश्चित नहीं हुआ, यह एक खेद की बात है। हिन्दी में समालोचना की स्थिति पर मत प्रकट करने के पहले समालोचना के आवश्यक अंगों का उल्लेख कर देना अत्यन्त आवश्यक है।

सब से पहली बात, जो समालोचना में होनी चाहिए, यह है कि आलोच्य विषय से लेखक की पूर्ण जानकारी हो। लेखक इस बात का ज्ञान रखते हों कि जिन वृत्तियों अथवा साहित्य

के अंगों पर वे अपना मत दे रहे हैं वे वास्तव में उनके ज्ञान की सीमा के भीतर हैं। बिना जाने हुए विषय पर मत देना समालोचना के सिद्धान्तों के नितान्त प्रतिकूल है। समालोचक आलोच्य विषय पर केवल साधारण ज्ञान रखते हैं और उस पर मत इस प्रकार देते हैं मानो उस विषय के शब्दों को लेकर ही उन्होंने अपनी बाल्यावस्था की गालियाँ सीखी हैं। अभी उस दिन की बात है कि एक चित्रावली समालोचना के लिए मेरे मित्र के पास आई। मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि वे चित्रों की कला के बारे में एक शब्द नहीं जानते। हाँ, अजन्ता के चित्रों का नाम उन्होंने सुन रखा है। बौद्ध समय की चित्रकला के कुछ शब्द उन्हें याद हैं और राजपूताना-पेंटिंग के दो-एक चित्र-मात्र से जानकारी रखते हैं। शायद उनके पास चित्रों के अलबम भी हैं। पर वे उसी प्रकार सुरक्षित हैं, जिस प्रकार एक शिशु अपनी पहली पोथी की रंगीन चित्रावली बड़े प्रेम से सुरक्षित रखता है, इस डर से कि कहीं मुन्नी उसे फाड़ न डाले। इसके अतिरिक्त वे कुछ नहीं जानते। इसका प्रमाण यह है कि मेरे बहुत बार पूछने पर भी उनसे कुछ संतोषजनक जवाब देते न बन पड़ा। किन्तु जब वह चित्रावली समालोचनार्थ आई तो उन्होंने इस प्रकार लिखा—

चित्रावली भावों के विचार से अवश्य अच्छी कही जा सकती है, पर पात्रों के यथास्थान स्थित होने और वय के विचार से निकृष्ट है। रंगों का विभाजन भी ठीक नहीं हुआ। अजन्ता के चित्रों में जो भावात्मक सौन्दर्य है उसकी उत्कृष्टता पर हमारे चित्रकारों का

ध्यान ही नहीं गया है। रोमन और बौद्धकालीन चित्रों का नग्न सौन्दर्य अभी हमारे चित्रकारों की आँखों में चुभा नहीं है। मुसलमानी स्कूल के चित्रों में बहुत कुछ अंश हम राजपूताना-पेंटिंग का पाते हैं। हमारे यहाँ के चित्रकारों को अब वास्तविक और नग्न सौंदर्य्य की अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये......"

ऐसी समालोचना कोई भी लिख सकता है, जो चित्र में ज़रा भी दिलचस्पी रखता है। ऐसे स्थूल और मोटे भावों का स्पष्टीकरण साधारण से साधारण व्यक्ति भी कर सकता है। ऐसी समालोचना अवांछनीय है। विषय का पूर्ण ज्ञान न होते हुए उसकी समालोचना करना दोष ही नहीं, बरन् उस विषय के प्रति अन्याय करना है। यह तो वही हुआ कि कोई महाशय हैं तो गणित के प्रोफेसर और अपना मत प्रदर्शित करते हैं साहित्य के गूढ़ातिगूढ़ अंगों के विषय में। ज्ञान रखते हैं विज्ञान का, और दम भरते हैं साहित्य-समालोचना का। जो विषय जिस व्यक्ति के हृदय में मँज गया हो, जिस व्यक्ति ने जिस विषय का विशेष अध्ययन किया हो, उसे उसी विषय का प्रतिपादन करना विधेय है; अन्यथा नहीं। अतएव आलोच्य विषय का प्रकांड ज्ञान होने पर ही उसकी आलोचना होनी चाहिये और तभी वास्तव में वह सच्ची समालोचना मानी जायगी।

समालोचना में जो दूसरी बात होनी आवश्यक है, वह निष्पक्षता है। समालोचक को उसी प्रकार अपना मत देना चाहिये जिस प्रकार पिता अपने दो बच्चों के युद्ध का निर्णय करता है। समालोचक अपने ज्ञान-तराजू में आलोच्य विषय

को ठीक तरह से तौल कर कह दे कि यह इतने सेर इतने छटाँक है। छली बनिये की तरह उसे अपनी तराजू एक ओर को न झुका देनी चाहिये। उसे देखना चाहिए कि बेचारा लेखक भोला बालक बनकर किस प्रकार रचना की ओर हाथ बढ़ाता है। यदि वास्तव में वह अपना उद्देश्य प्राप्त कर लेता है तो उसे धन्यवाद देना चाहिए, और यदि नहीं, तो सीधे शब्दों में कह देना चाहिए कि लेखक असफल रहा। मित्र-भाव के कारण असफल लेखक को कभी उच्च स्थान न देना चाहिए और न शत्रुभाव के कारण एक अच्छे लेखक को नीचा स्थान ही। नीर-क्षीर-विवेक ही उसका उद्देश्य रहना चाहिए। भले को भला और बुरे को बुरा कहना उसके लिए लाज़मी है। कभी-कभी वर्तमान लेखकों के विषय में समालोचक दब से जाते हैं। वे अपने हृदय की बात प्रकट नहीं कर पाते। कहना तो चाहते हैं कि लेखक की कृति में कोई गुण नहीं है, पर इस कारण कि लेखक जीवित है और कुछ ख्याति प्राप्त कर चुका है, वे बेचारे चुप रह जाते हैं और एक शब्द भी उसके विरुद्ध नहीं कह पाते। अरनाल्ड ने अपने (Essays in Criticism) ऐसेज़ इन क्रिटिसिज़्म में इसे (Personal fallacy) 'पर्सनल फैलिसी' कहकर पुकारा है, यह 'वैयक्तिक-दोष' कहा जा सकता है। किसी व्यक्ति विशेष के प्रभुत्व के कारण बेचारा समालोचक भीगी बिल्ली के समान सिकुड़ कर बैठ जाता है, फिर उसके मुँह से एक आवाज़ भी नहीं निकलती। पं० रमाकान्त त्रिपाठी की 'हिन्दी-गद्य-मीमांसा' में यह उदाहरण पाया जा सकता है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वर्तमान लेखक की रचना में दोष ढूँढ कर गिनाये ही जाने चाहिये; पर दूसरी ओर यह भी न होना चाहिए कि रचना में दोष होते हुए भी उन पर प्रकाश न डाला जाय। उसकी समालोचना गुण-दोषों के अनुसार ही होनी चाहिए। एक बात और है जो समालोचकों में पाई जाती है। वह है कि वे अपने ज्ञान का व्यर्थ परिचय देने के लिए बड़े लेखक की रचना में कुछ न कुछ दोष अवश्य ही खोज निकालना चाहते हैं। जैसे—"पुस्तक वास्तव में बड़ी सुन्दर है; पर उसमें इस विषय का प्रतिपादन संयत रीति से ही होना चाहिए था"। ऐसे लोगों का विचार है कि पुस्तक की उपयोगिता बतलाते हुए उसमें एक-न-एक नुक्स अवश्य ही दिखलाना चाहिए। समालोचक समझते हैं कि लोगों को ज्ञात हो जायगा कि लेखक को इस पुस्तक के विषय का यथेष्ट ज्ञान तो है ही, पर वह उसको और भी परिष्कृत रूप में देखना चाहता है। पर यह भावना अनुचित है। समालोचकों को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पक्षपात-रहित समालोचना ही अमर हो सकती है; जहाँ उसमें पक्षपात की थोड़ी सी भी बू आई कि उसका महत्त्व न जाने कितने अंशों में कम हो जाता है। ऐसी समालोचना वैमनस्य की गन्ध से दूषित रहती है। वह न कभी अपना उद्देश्य पूरा कर सकती है और न साहित्य में उच्च स्थान ही प्राप्त कर सकती है।

तीसरी बात जो समालोचना में होनी उचित है, वह यह है कि उसमें जो कुछ कहा जाय वह रचना पर कहा जाय,

किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं । समालोच्य विषय रचना है न कि लेखक। यह बात अवश्य है कि लेखक ने ही उस रचना को लिखा है। पर यह ध्यान में रखने योग्य है कि उसकी रचना ही साहित्य का अंग है, वह स्वयं नहीं; अतएव साहित्य-सिद्धान्तों के अनुसार रचना की ही समालोचना होनी चाहिये; व्यक्ति की नहीं। जैसे—

"इस पुस्तक के संपादक हैं बाबू पारसनाथसिंह । पारस बाबू कितने साहित्यिक हैं, यह बात हम लोग जानते हैं···।'

"लेखक बहुश्रुत और विस्तृत अनुभव-ज्ञान-सम्पन्न हैं । गत तीस-बत्तीस वर्षों में आप शिक्षा-विभाग के लगभग सभी पदों पर काम कर चुके हैं और गत वर्ष ही···प्रिंसिपल के पद से आप रिटायर हुए हैं । इस कालेज में किसी-न-किसी हैसियत से आपका सम्बन्ध २४, २५ वर्ष रहा······।"

"जायसवालजी की गवेषणा—ऐतिहासिक खोज—जगत्प्रसिद्ध है; उसके लिए परिचय की आवश्यकता नहीं । प्राचीन भारत के गौरव को विदेशियों के सामने रखने में आपने बड़ी योग्यता प्रदर्शित की है········।"

ऐसी समालोचना उचित समालोचना नहीं है । लेखकों की प्रशंसा न कर रचना की प्रशंसा होनी चाहिये । समालोचक शायद समझते हैं कि लेखक की प्रशंसा कर देने से वह खुश हो जायगा और भविष्य में उसकी कृपा का पात्र बन जायगा । ऐसी ओछी भावना कभी समालोचक को नहीं रखनी चाहिए। समालोचक का वही कार्य है जो एक सेना-संचालक का है ।

जिस प्रकार धुएँ के अन्धकार में सेनापति जानता-समझता हुआ कहता है कि इस ओर बढ़ो, वहाँ से पीछे हटो; उसी प्रकार समालोचक को साहित्य-प्रेमियों का संचालन करना चाहिए! उसे यह साफ तौर से बतलाना चाहिए कि यह पुस्तक पढ़ने योग्य है, वह फाड़ डालने योग्य, वह ताक में रख देने योग्य। यदि किसी प्रलोभन से सेना-नायक अपनी सेना को अनुचित दिशा में जाने का आदेश दे तो फल यह होगा कि उसकी सेना या तो मर जायगी या तितर-बितर होकर भाग जायगी। उसी प्रकार यदि समालोचक किसी प्रलोभन से अपने पाठकों को बुरी पुस्तकों की ओर दौड़ा दे तो उसे पाठकों को बुरी दिशा में ले जाने का पाप लगेगा और पाठकों की संख्या अव्यवस्थित हो जायगी। एक बात और है। देश के साहित्य का निर्माण यदि सच पूछो तो समालोचकों के ही हाथ में है। यदि वे चाहें तो उसे परिष्कृत कर सकते हैं और मन में समा जाय तो वे उसे पतन की ओर भी ले जा सकते हैं। वे यदि किसी प्रकार बुरी पुस्तक की अच्छी समालोचना कर दें तो पाठकों की दृष्टि उस ओर अवश्य दौड़ जायगी और पाठकगण अधिक संख्या में उसे पढ़ने लगेंगे। फल यह होगा कि उन पाठकों की रुचि दूषित हो जायगी और वे सदैव ऐसी पुस्तकों की माँग साहित्य-संसार में रक्खेंगे जो कुरुचिपूर्ण होंगी। फल उसी के अनुरूप होगा। लेखकगण, जो रुपये और यश के इच्छुक हैं, वैसी ही पुस्तकें लिखने लगेंगे और सारे साहित्यक्षेत्र को कुलुषित कर डालेंगे। हिन्दी-साहित्य के विकास की १८वीं और १९वीं शताब्दी

में क्या दशा थी ? सूर के राधाकृष्ण ने जब नायक-नायिकाओं का रूप रक्खा, तब जनता विलास के सागर में डूब गई। उस समय किस प्रकार का साहित्य निर्मित हुआ था, यह सभी हिन्दी-प्रेमी जानते हैं। उस समय जनता वास्तविक धर्म के तत्त्वों को भूल गई थी। भगवान के नाम भर से प्रेम रह गया था, उनके आदर्शों से नहीं। ऐसी स्थिति में—

'रति न सुहाति न सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों।'

अथवा—

'पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसकाय।
कै-कै सबै टलाटली, अली चलीं सुख पाय॥'

यही पंक्तियाँ बार-बार पाठकों के मुख से निकलेंगी। फिर जब युगान्तर होने पर भारतेन्दु जैसा कोई लेखक उत्पन्न होकर जनता की प्रवृत्ति को मोड़ेगा तब कहीं जाकर साहित्य फिर संयम से संसार की ओर देखता हुआ खड़ा होगा, अन्यथा नहीं। तब तक जनता की यही रुचि, यही भावना, यही गति और यही मति रहेगी। ऐसी रीति के प्रवृत्त करने वाले वे हैं, जो वैसी कृति का प्रचार करते हैं। सत्रहवीं शताब्दी में वे साधु कहलाते थे, बीसवीं शताब्दी में समालोचक।

समालोचना में चौथी बात यह होनी चाहिए कि उसकी भाषा शिष्ट और सभ्य हो। जो कुछ लिखा जाय वह ऐसी भाषा में हो, जो सभ्य लोगों को सुनने में अरुचिकर प्रतीत न हो। समालोचना का उद्देश्य तो यह है कि वह सभ्यतापूर्ण भाषा

में गुणदोषों की समीक्षा विशद रूप से करे। यदि समालोचना में भद्दे और गंदे शब्दों ने स्थान पा लिया तो उससे और सभ्यता से सम्बन्ध ही क्या रहा ? वह तो खासी लड़ाई-सी हो गई। परस्पर गाली-गलौज और वैमनस्य के सिवा उसमें रहा ही क्या ! जिस प्रकार दो दलों में युद्ध के समय परस्पर इस बात का खयाल रखा जाता है कि जहाँ तक हो सके विरुद्ध या विपक्षी दल को क्षति पहुँचे, ठीक वैसा ही खयाल इस प्रकार की समालोचना में होता है। इसमें यह विधान नहीं रह जाता कि मित्र या गुरु की हैसियत से लेखक को बुरे मार्ग से भले मार्ग में ले जायँ और उसके प्रशंसनीय कार्यों पर दाद दें। यहाँ तो गाली-गलौज के पत्थर और ढेलों से सारा साहित्य-क्षेत्र ही तहस-नहस हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप पंडित पद्मसिंह शर्मा का सतसई-संहार ही ले लीजिये। बेचारे विद्या-वारिधि ज्वालाप्रसाद पर उन्होंने व्यंग्य और गालियों के वे वाक्य-बाण चलाये हैं जिन्हें सुनकर विद्यावारिधि जी की रूह फ़ना होगई होगी। उन्होंने बिहारी-सतसई की समालोचना बड़ी सुन्दर रीति से की है। उससे उनकी विद्वत्ता का पता चलता है। तुलनात्मक समालोचना की तो उन्होंने सुन्दर परिपाटी-सी निकाल दी। उसे दृष्टि में रखते हुए सतसई-संहार पर आश्चर्य होता है। उन्होंने बार-बार विद्यावारिधि जी को खूब कोसा है। शायद पुराना वैर निकाला है।

इस वाग्युद्ध में साहित्य का क्या भला हो सकता है यह समझ में नहीं आता ! ऐसी समालोचना की रीति हिन्दी-साहित्य

में न चलनी चाहिए।

समालोचना में पाँचवीं बात जो होनी आवश्यक है वह यह है कि उसमें कोरी वाहवाही ही न हो। "वाह कितना सुन्दर है! कितना भावपूर्ण है! कितना मनोरंजक है!" केवल इनसे ही समालोचना का कलेवर शोभा नहीं पा सकता। (समालोचना में गुण-दोषों का भाव होना चाहिए—केवल शब्दमात्र नहीं)। यह बात दूसरी है कि समालोचक किसी लेख-विशेष से अपनी प्रसन्नता प्रकट करे, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह केवल प्रशंसा या निन्दा के शब्दों से अपनी आलोचना का विस्तार भर दे।

हिन्दी में अभी समालोचना का स्वर्ण-युग नहीं आया। उसके विकास में अभी भविष्य न जाने क्या करेगा; किन्तु यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जिन मार्गों पर हमारी समालोचना जा रही है वे परिणाम में सुखद नहीं हैं। यदि हम अंग्रेज़ी समालोचकों की ओर दृष्टि उठावें तो हमें ज्ञात हो जायगा कि उन्होंने समालोचना में जिस शैली का अनुसरण किया है वह सर्वांश सुरुचिपूर्ण और द्वेष-हीन है। पाश्चात्य समालोचक तो एक पुस्तक की समालोचना में दूसरी पुस्तक तैयार कर लेते हैं। शेक्सपियर के एक-एक नाटक की समालोचना के लिए सौ-सौ पुस्तकें तैयार हो गई हैं। हमारे यहाँ शिशुओं के समान अब तक आपस में लड़ने और झगड़ने की ही प्रवृत्ति पाई जाती है।

यह तो हुई समालोचकों की बात। अब ज़रा उन बेचारे

लेखकों की ओर आइए, जिनकी रचना समालोचना की आग पर तपाई जाती है।

कोई भी लेखक जिसकी आयु चाहे नौ, उन्नीस अथवा निन्नानवे वर्ष की हो, अपनी लेखनी कागज़ पर केवल दो विचारों के वशीभूत होकर रखता है। प्रथम तो यह कि उसे कुछ कहने की आकांक्षा है और वह उसे अधिक से अधिक व्यक्तियों से कहना चाहता है और अमर होकर कहना चाहता है। दूसरे वह यह जानना चाहता है कि लोग उसकी लेखनी के बारे में क्या कह रहे हैं।

प्रायः देखा जाता है कि किसी नई पुस्तक के प्रकाशित होते ही आलोचकों की आँखें उस पर उसी प्रकार खिंच जाती हैं जिस प्रकार मछली के ऊपर आते ही बगुले की। वे बड़ी उत्कंठा से, उसकी उत्कृष्टता की पूरी जाँच करने के पहले ही उस पर अपनी आलोचना की गोली "दाग" देते हैं। बेचारे नये लेखक या ग्रन्थकार स्वभाव से ही उत्सुक और संकोची रहते हैं। उत्सुक रहते हैं इसलिए कि देखें आलोचक उनकी लेखनी का स्वागत किस प्रकार करते हैं और संकोची इसलिए कि कहीं कोई उनकी रचना को बुरा न कह दे। इसलिए वे अपनी रचना को लोगों की आँखों के सामने लाने में थोड़ा संकोच करते हैं।

ग्रन्थकार एक गर्भवती स्त्री के समान है। उसका लेखन-कार्य मानो गर्भावस्था की वह स्थिति है जिसमें कोई वस्तु तैयार होती है। गर्भवती स्त्री के समान ग्रन्थकार भी भावोन्मादी होता है। यौवन और सौंदर्य की सम्पत्ति लिये यदि कोई गर्वीली मुग्धा स्त्री

यह सुन ले कि कोई उसके फूल से लाल को बुरा बतला रहा है, तो वह शायद आजन्म उस दुष्ट आलोचक की ओर आँख उठाकर भी न देखे। उसी प्रकार नया ग्रन्थकार यदि सुन ले कि कोई उसकी नवीन उत्साहपूर्ण रचना को रद्दी कह रहा है तो वह उससे अपना ग्रन्थ छीने बिना कभी न रहेगा। उसे इस बात का विश्वास है कि मैंने जो रचना की उसमें मेरी सारी शक्तियों का समावेश है; मैंने उसे नौ महीने के अथक परिश्रम से निर्मित किया है। यह कैसे हो सकता है कि उसमें दोष हो! यह भावना केवल उन ग्रन्थकारों में होती है जिसमें ग्रन्थकार बनने का नशा रहता है; और जो उस क्षेत्र में अंधे बनकर आ गये हैं।

ऐसी स्थिति में नये ग्रन्थकार की नई पुस्तक निकलते ही उसपर समालोचनाओं और सम्मतियों की बौछार वर्षाकाल की बूँदों की भाँति होने लगती है। किसी में प्रशंसा है तो किसी में निन्दा। बेचारा ग्रन्थकार किसी की लेखनी से अपनी प्रशंसा पढ़कर हर्ष और संतोष से दुगुना हो जाता है तो दूसरे से अपनी निन्दा सुनकर क्रोध के मारे ऐंठकर आधा ही रह जाता है। किसी सुसमालोचक की वह सराहना करता है, क्योंकि उसने पुस्तक की प्रशंसा की है, उसके ज्ञान की गीता अपने मित्रों से कहता है, तो किसी कुसमालोचक के लिए उसकी गालियों का द्वार खुल जाता है। वह दाँत पीसता हुआ एक ही साँस में समालोचक के लिए न जाने क्या-क्या कह जाता है। सोते समय भी वह स्वप्न में उसको अपने क्रोध की धीमी आग में

जलाता रहता है।

यह ग्रन्थकार की प्रथम दशा है। इसके बाद दूसरी स्थिति आती है जब उसमें सहनशक्ति की मात्रा बढ़ जाती है। वह आलोचना की आग में नहीं जलता। वह समझ लेता है कि आलोचक मेरा शत्रु नहीं है। जो कुछ उसने लिखा है सद्भावों के वशीभूत होकर ही लिखा है। उसमें द्वेष की मात्रा है ही नहीं। उस समय ग्रन्थकार को अपने दोष स्वीकार करने की क्षमता-सी आ जाती है। वह चुपचाप सिर झुकाकर आलोचक के नश्तर को सहन करता है। सोचता है—इस नश्तर से मेरे दोषों का काला रक्त ही निकलेगा और अन्त में मेरा ही हित होगा। ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार आलोचक को गालियाँ नहीं देता, वरन् उसको अपना पथ-प्रदर्शक मानकर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। वह सोचने लगता है कि प्रशंसा और गुणगान के शब्दों से आत्मिक प्रसन्नता और उत्साह तथा प्रोत्साहन अवश्य मिलता, पर उन शब्दों से हममें यह शक्ति न आ पाती कि भविष्य में हम इससे अच्छी रचना करें अथवा हमारी रचना-शक्ति में उन्नति का स्वरूप दृष्टिगत हो। आलोचना से सब से अधिक लाभ जो ग्रन्थकार का हो सकता है, वह उसकी शैली की विशदता और मँजी हुई भाव-शृंखला ही है। जब आलोचक और ग्रन्थकार में युद्ध छिड़ता है तो आलोचक को तो नहीं, किन्तु ग्रन्थकार को लाभ अवश्य पहुँचता है। उसके सारे दोष जो अब तक छिपे हुए थे, धीरे-धीरे प्रकाश में आने लगते हैं और अन्त में वह उनसे रहित

होकर उसी प्रकार चमकने लगता है जैसे शरद् पूर्णिमा का चन्द्र।

इसके बाद ग्रन्थकार की तीसरी दशा आती है, जब वह संन्यासी की भाँति संसार की आलोचना से विरक्त-सा रहता है। उसे इस बात की चिन्ता ही नहीं है कि उसकी पुस्तक को लोग क्या कह रहे हैं। उसने अपना हथियार माँज रखा है। उसकी तेज़ी को जब लोग नहीं सराहते तो कह बैठता है कि इस समय लोगों को गालियाँ देने दो, मेरी रचना का तिरस्कार करने दो। एक समय ऐसा आयेगा जब लोग मेरे एक एक शब्द पर 'वाह' 'वाह' कह उठेंगे। यही हाल भवभूति का था। संस्कृत साहित्य में उसका नाम अमर है। उसकी रचना से ज्ञात होता है कि लोगों ने उसकी कविता को प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा। वह लिख गया है कि किसी समय मेरी कविता संसार भर में फैल जायगी। वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। आज भवभूति अपनी क्लिष्ट कविता के लिए विश्वप्रसिद्ध है। यही वह स्थिति है जिसमें ग्रन्थकार अपनी लेखनी से ऐसे-ऐसे ग्रन्थ निकालता है जो विश्वसाहित्य में अमर हो जाते हैं। ग्रन्थकार किसी की परवाह नहीं करता। वह भावोन्मादी होकर अपने राग में इतना मग्न हो जाता है कि फिर उसे बाह्य संसार की चिन्ता ही नहीं रहती। वह तुलसीदास जी के शब्दों में कहने लगता है—

खल उपहास होइ हित मोरा
काक कहहिं कल कंठ कठोरा॥

वास्तव में ऐसी स्थिति में ही ग्रन्थकार उन्नति करता है। वह अपने को एक राग में निहित कर सदैव के लिए ऐसा लीन कर लेता है कि फिर समालोचक की भारी से भारी आवाज़ भी उसको उस आनन्द से भिन्न नहीं कर सकती। समालोचना का काटता हुआ शीतल अनिल सनसन कर ग्रन्थकार के खुले हुए वक्ष-स्थल पर प्रहार करता हुआ चला जाता है; पर वह वीरता के साथ सिर उठाये अपने चौड़े वक्ष-स्थल को गर्व के साथ सामने किये खड़ा रहता है। संसार में ऐसी कौन सी शक्ति है जो उसे उसके पथ से विचलित कर सकती है ?

इतिहास-प्रवेश

[ले० श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार]

इस पुस्तक में मोहन-जो-दड़ो से लेकर आज तक का भारत का राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास कमाल की सुन्दर योजना पर चुस्त, ज़ोरदार, ठिकाने की और तिस पर भी रंगीन भाषा में लिखा गया है। यह भारतीय दृष्टि से लिखा गया भारत का एक मात्र इतिहास है। चित्र और नक्शे सब मौलिक और प्रामाणिक हैं। पुस्तक अत्यन्त समयानुकूल, सब पहलुओं से पूर्ण और सन्तोषजनक है। लेखक का नाम पुस्तक की उपादेयता का प्रमाण है। यदि आपने यह ग्रन्थ नहीं पढ़ा तो आपका भारतीय इतिहास का ज्ञान अपूर्ण है; यदि आपने इस ग्रंथ का मनन कर लिया है तो आपको और कोई पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न

[ले० श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार]

इस पुस्तक में वेद से लेकर मध्यकाल तक के प्राकृत, पालि, संस्कृत और तमिळ भाषाओं के समस्त भारतीय वाङ्मय का दिग्दर्शन किया गया है।